मनुष्य का स्वभाव ही ऐसा है कि वह क्षणिक को ही महत्व देकर शाश्वत की उपेक्षा करता रहता है। किन्तु क्षणिक सुख के पीछे कितना दुःख छिपा है इसका उसे ज्ञान नही है। जिस कारण इसके अवश्यम्भावी परिणामो से वह मुक्त नही हो सकता।

भारतीय अध्यात्म की सबसे बडी विशेषता यही है कि इसमे जीवन और अध्यात्म इन दोनों का ही इस प्रकार समन्वय किया गया है कि जिस से मनुष्य भौतिक जगत मे रहकर भी उच्च जीवन हेतु अग्रसर हो सकता है। अध्यात्म की वेदी पर जीवन की बलि भी नही दी गई और जीवन के लिए अध्यात्म का तिरस्कार भी नही किया गया।

उच्च जीवन के लिए इन्ही महान आदर्शों का समन्वय और सम्पूर्ण ज्ञान का निरूपण करने वाले ग्रथ ही उपनिषद हैं। जो सभी ग्रथो मे नही पढ सकते अथवा उनके क्लिष्ट सिद्धान्तो को नही समझ सकते उनके लिए उपनिषद ही सर्वोपरि महत्व के हैं। जिनके अध्ययन से उन्हे भारतीय चिन्तन की पराकाष्ठा का ज्ञान हो सकेगा। इसी महत्त्वपूर्ण एव शाश्वत ज्ञान निधि का थोडा सा परिचय देने के लिए ही इन तीन उपनिषदो का चयन किया गया है।

"सत्येन पंथा विततो देवयानः ।"

तीन उपनिषद

ईशावास्य, मुण्डक एवं श्वेताश्वतर उपनिषद्

(हिन्दी अनुवाद और व्याख्या)

व्याख्याकार—
श्री नन्दलाल दशोरा

मूल्य : २०.००

रणधीर बुक सेल्स (प्रकाशन) हरिद्वार (उ० प्र०)

प्रकाशक :
रणधीर बुक सेल्स (प्रकाशन)
१८२, श्रवण नाथ नगर, आरती होटल के पीछे, हरिद्वार (उ० प्र०)

मुख्य विक्रेता :
१. पुस्तक संसार, बड़ा बाजार, हरिद्वार-२४९४०१
२. पुस्तक संसार, १९८, नुमाइश का मैदान, जम्मू-१८०००१
३. गगनदीप पुस्तक भण्डार, एस० एन० नगर, हरिद्वार

संस्करण : प्रथम १९९०

मूल्य : बीस रुपये केवल

मुद्रक :
सुरेन्द्र प्रिंटर्स
४/१२३, सरवरिया मार्केट, विश्वास नगर,
शाहदरा, दिल्ली-११००३२

भूमिका

भारत की ऋषि परम्परा सर्वाधिक प्राचीन है-इन ऋषियों ने वनो मे रहकर, सांसारिक भोगो की वासनाओं का त्याग करके, सात्विक जीवन जीते हुए मानव कल्याण के लिए जिस उच्चतम शाश्वत ज्ञान को प्राप्त किया था वह आज भी हमारा मार्ग दर्शन कर रहा है। यह ज्ञान मात्र आध्यात्मिक ही नहीं है जो केवल मोक्ष प्राप्ति का ही साधन हो बल्कि यह सम्पूर्ण सृष्टि रचना, उसकी कार्य प्रणाली, तथा जीवन के सम्पूर्ण रहस्यों को प्रकट करने वाला है। जीवन में कुछ शाश्वत है तथा कुछ जीवनोपयोगी एवं क्षणिक, कुछ शाश्वत सुख एवं शांति प्रदान करने वाला है तो कुछ क्षणिक सुख देकर सदा के लिए विलीन हो जाता है। मनुष्य का स्वभाव ही ऐसा है कि वह क्षणिक को ही महत्त्व देकर शाश्वत की सदा उपेक्षा करता रहता है किंतु इस क्षणिक सुख के पीछे कितना दुःख छिपा है इसका उसको ज्ञान नही है जिससे इनके अवश्यम्भावी परिणामों से वह मुक्त नही हो सकता। इसी ज्ञान के अभाव में वह शाश्वत की उपेक्षा करके क्षणिक सुख देने वाले भोगो की ओर ही आकर्षित होकर जन्म-जन्मांतर तक दुःख का भागी होता है। उस शाश्वत का ज्ञान होने पर वह इस क्षणिक सुख की प्राप्ति के साधनों की उपेक्षा कर देता है जिससे इस थोड़े सुख का त्याग करके वह अनन्त सुख का भागी हो जाता है। जीवन में इन दोनों मूल्यो की अनिवार्यता है। क्षणिक भोगो मे अहंकार, आसक्ति, वासना, ममता आदि का त्याग करते हुए शाश्वत मूल्यों की उपासना करने से मनुष्य वर्तमान एव भावी दोनों जीवन को सफल बना सकता है। भारतीय अध्यात्म की यही सबसे बड़ी विशेषता रही है कि जीवन और अध्यात्म इन दोनो का

इस प्रकार समन्वय किया गया है कि जिससे मनुष्य भौतिक जगत में रहकर भी उच्च जीवन हेतु अग्रसर हो सकता है। अध्यात्म की वेदी पर जीवन की बलि नहीं दी गई है तथा जीवन के लिए अध्यात्म का तिरस्कार भी नहीं किया गया है। दोनों को ही उच्च जीवन के लिए स्वीकार किया गया है जो एक महान आदर्श है।

यह सम्पूर्ण ज्ञान वेदों में संग्रहीत है जिसकी व्याख्या ही उपनिषद, पुराण, गीता, दर्शन ग्रंथ तथा वेदांगों आदि में हुई है। इस प्रकार वेद ही वह मूल है जिसका विस्तार इन विभिन्न शाखाओं प्रशाखाओं में हुआ है। सभी भारतीय अध्यात्म ग्रंथ वेदों को ही प्रामाणिक मानकर चले हैं। व्याख्या में थोड़ी बहुत भिन्नता एवं मान्यताओं में अंतर होते हुए भी मूल तथ्यों में कोई अंतर नहीं आता।

वेदों के ज्ञान भाग का निरूपण करने वाले ग्रंथ ही उपनिषद हैं जिनमें सृष्टि के मूल तत्त्व 'ब्रह्म' पर विचार किया गया है। इन उपनिषदों की कुल संख्या एक सौ बारह है जो सम्भवतः भिन्न-भिन्न ऋषियों द्वारा वेदों के ज्ञान भाग की व्याख्या करने हेतु तैयार किये गये हैं जिनमें वेदों के कई मंत्र ज्यों के त्यों उद्धृत किये गये हैं। इन समस्त उपनिषदों का सार ही श्रीमदभगवदगीता है तथा इन सबका समन्वय 'ब्रह्मसूत्र' में किया गया है जो वेदांत दर्शन का मुख्य ग्रंथ है। इसी कारण उपनिषद, गीता तथा ब्रह्मसूत्र को प्रस्थानत्रयी कहा जाता है जिनको जान लेने पर भारतीय अध्यात्म का मूल स्वरूप स्पष्ट हो जाता है। जो वेदों को नहीं पढ़ सकते अथवा जिनके क्लिष्ट सिद्धांतों को नहीं समझ सकते उनके लिए ये तीन ग्रंथ ही सर्वोपरि महत्व के हैं जिनके अध्ययन से भारतीय चिंतन की पराकाष्ठा का ज्ञान हो जाता है।

अध्यात्म ज्ञान के कई पक्ष हैं जिनमें ब्रह्मविद्या का ज्ञान सबसे महत्वपूर्ण है। सृष्टि का यही मूल तत्त्व है जिससे सृष्टि की

रचना हुई है। इस ब्रह्म को तत्त्व से जान लेने पर संसार के सभी कर्म बंधनों का क्षय होकर मोक्ष प्राप्ति का अनुभव हो जाता है जिस से इस जीवात्मा का सम्पूर्ण दु खों से छुटकारा होकर उसे परमानन्द की अनुभूति होती है। मुण्डक उपनिषद में कहा है—

> भिद्यते हृदयग्रंथिश्छिद्यन्ते सर्व संशय ।
> क्षीयंते चास्य कर्माणि तस्मिन्दृष्टे परावरे ॥
> (मुण्डक उप० २/२/८)

[उस परात्पर ब्रह्म को जान लेने पर इस जीवात्मा के हृदय की गाँठ खुल जाती है, सम्पूर्ण सशय कट जाते हैं और सभी कर्मों का क्षय हो जाता है।]

ऐसे परब्रह्म का निरूपण इसी ब्रह्म विद्या के अंतर्गत आता है जिसे 'वेदांत' कहा जाता है। इसलिए इस वेदांत का ज्ञान ही सर्वोपरि ज्ञान है। इसी ज्ञान के आधार पर इस सम्पूर्ण सृष्टि में समत्व का दर्शन होता है जिसे प्राप्त करके ही ऋषियों ने 'सर्वखल्विदं ब्रह्म', 'अयमात्मा ब्रह्म', 'ईशावास्यम् इदम् सर्वं', 'नेह नानास्ति किंचन' का उद्घोष किया जो इस सम्पूर्ण सृष्टि में एकत्व का प्रतिपादन करने वाला है। इसी समत्व ज्ञान से ही हृदय की ग्रंथि का भेदन होता है, सभी संशय एवं भ्रांतियाँ निर्मूल हो जाती हैं तथा सभी कर्मों का क्षय होकर मोक्ष का अनुभव होता है। इसी अद्वैत वेदांत पर जगद्गुरु शंकराचार्य ने भाष्य तैयार किये हैं जो भारतीय समाज को आज एक सूत्र में पिरोये हुए हैं। यदि ईश्वर एक है तो धर्म भी एक है तथा यह सम्पूर्ण सृष्टि भी एक तथा अखण्ड है। जो इस एक में विश्वास नही रखता तथा भिन्नता का पोषण करता है वह धर्म नही सम्प्रदाय अथवा मत मात्र है। जो सार्वभौम न हो तथा किसी वर्ग विशेष को ही दिया गया उपदेश हो वह धर्म का स्थान नहीं ले सकता। इस प्रकार अद्वैत की मान्यता ही एकमात्र धर्म का स्थान ले सकती है। थियोसॉफी, सूफी आदि भी इसी मान्यता में विश्वास रखते हैं।

हमारी इस महत्वपूर्ण एवं शाश्वत ज्ञान निधि का थोड़ा-सा परिचय मात्र पाठकों को देने हेतु मैंने इन तीन उपनिषदों का चयन कर इनकी व्याख्या करने का प्रयास किया है जिससे आज इस बढ़ती हुई भौतिकता के प्रवाह में यदि किसी को अध्यात्म रूपी किनारे का थोड़ा आभास हो सके तो वह प्रयत्न करके इस जल प्रवाह से बचने का साधन जुटा सकता है। भौतिकता की चकाचौंध में हम अध्यात्म के प्रति अंधे न हो जायें; इसी अपेक्षा से इसके सम्पादन का कार्य हाथ में लिया है। यदि इसमें कहीं मतभेद अथवा त्रुटि दिखाई दे तो पाठक इसका स्वयं ही सुधार करके सत्यान्वेषण की ओर प्रयत्नशील हों, यही उचित मार्ग है। मेरा उद्देश्य ज्ञान देना नहीं है बल्कि हमारी इस ज्ञान राशि से अवगत कराना मात्र है। यदि इससे पाठकों में अध्यात्म के प्रति अधिक जानने की जिज्ञासा जाग्रत होती है तो मैं अपना श्रम सार्थक समझूंगा।

धन्यवाद !

—व्याख्याकार

नन्दलाल दशोरा

उदयपुर (राज०)

२६ जनवरी सन् १९८८

विषय-सूची

१. ईशावास्योपनिषद्

२. मुण्डकोपनिषद्

२. द्वितीय मुण्डक (अ) प्रथम खण्ड

(ब) द्वितीय खण्ड

३. तृतीय मुण्डक (अ) प्रथम खण्ड

(ब) द्वितीय खण्ड

३. श्वेताश्वतरोपनिषद्

पहला अध्याय

दूसरा अध्याय

तीसरा अध्याय

चौथा अध्याय

पाँचवाँ अध्याय

छठा अध्याय

॥ श्वेताश्वतर उपनिषद् समाप्त ॥

ओं पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात् पूर्णमुदच्यते ।
पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते ॥

[शान्तिपाठ]

१. ईशावास्योपनिषद्

ईशावास्यमिदम् सर्वं यत्किंच जगत्याम् जगत् ।
तेन त्यक्तेन भुंजीथा मा गृधः कस्यस्विद धनम् ॥

[ईशा०-१]

प्रस्तावना

उपनिषदों में ईशावास्य का स्थान सर्वप्रथम है । यह उपनिषद शुक्ल *यजुः संहिता का जिसे वाजसनेयी संहिता भी कहते हैं—चालीसवाँ अध्याय* है । इससे पूर्व के उन्चालीस अध्यायों में कर्मकाण्ड का निरूपण है । यह उसका अंतिम अध्याय है जिसमे ज्ञान काण्ड का निरूपण किया गया है । इसका प्रथम मंत्र 'ईशावास्यम्' से आरम्भ होने के कारण ही इसका नाम भी 'ईशावास्य' हो गया । इसका आकार छोटा होने पर भी यह सबसे महत्वपूर्ण एवं प्रामाणिक उपनिषद है ।

इस उपनिषद में शांति पाठ के साथ कुल अठारह मंत्र है । शांतिपाठ मे ब्रह्म एवं जगत की अभिन्नता तथा इनके पूर्णत्व का निरूपण है । प्रथम दो मंत्रो में साधना की दो महत्वपूर्ण निष्ठाओ—'ज्ञान' और 'कर्म' अथवा 'निवृत्ति' एवं 'प्रवृत्ति मार्ग' का निरूपण है, तीसरे मंत्र में अज्ञानी की गति बतलाई गई है, चौथे तथा पाँचवे मे परब्रह्म के स्वरूप का निरूपण है, छठवें और सातवें में ज्ञानी के लक्षण बताये गये हैं तथा आठवे मे आत्मा के स्वभाव का निरूपण है । मंत्र नौ से चौदह तक उपासना और उनके विविध फलों का निरूपण किया गया है एवं अन्त में मंत्र पंद्रह से अठारह तक ज्ञानोपलब्धि के लिए प्रार्थना की गई है ।

इस प्रकार इस छोटे से उपनिषद मे सारभूत सभी तथ्यो का सार समाहित कर दिया गया है जिससे साधक इसके रहस्य को समझकर उचित साधना मार्ग का निर्णय ले सकता है ।

तत्वज्ञान और साधना दोनों का समावेश होने से इसका महत्व सर्वाधिक है ।

—व्याख्याकार

ईशावास्योपनिषद्

शान्ति पाठ

१. "ओ३म वह पूर्ण है और यह भी पूर्ण है ; क्योंकि पूर्ण से पूर्ण की ही उत्पत्ति होती है। तथा पूर्ण का पूर्णत्व लेकर पूर्ण ही बच रहता है। ओ३म शान्ति ! शान्ति !! शान्ति !!!"

व्याख्या—उपनिषद् का आरम्भ शान्ति पाठ से होता है। यह शान्ति पाठ भी ऐसा है जिसमें सम्पूर्ण सृष्टि का रहस्य समाया हुआ है। इस रहस्य को जिसने जान लिया है उसके त्रिविध ताप शान्त होकर वह परम-पद का अधिकारी बन जाता है। इस त्रिविध ताप की शान्ति के लिए ही अन्त में तीन बार 'शान्ति' कहा गया है।

शान्ति पाठ के आरम्भ में कहा गया है 'वह पूर्ण है'। वह परब्रह्म परमात्मा जो सम्पूर्ण स्थावर-जंगम सृष्टि का कारण है पूर्ण है। वह अनन्त, असीम, निर्विकार, सर्वव्यापक, सर्वशक्ति-सम्पन्न परब्रह्म सदा सर्वदा पूर्ण है। वही सृष्टि के आदि में है, मध्य मे भी है तथा अन्त में भी वही रहेगा। इसकी पूर्णता भी ऐसी है कि सम्पूर्ण सृष्टि की रचना करके भी इसकी पूर्णता मे कमी नही आती। वह पूर्ण ही बना रहता है तथा प्रलय काल में सम्पूर्ण सृष्टि का इसमे लय हो जाने पर भी वह पूर्ण ही रहता है, बढ़ता नहीं है। ऐसी पूर्णता साधारण गणित से समझ मे नही आएगी। इसका गणित भौतिक वस्तुओं व धन-सम्पत्ति से समझ मे नही आएगा कि पूरे मे से पूरा निकाल दिया जाय फिर भी पूरा ही कैसे बच रहता है ? यह अध्यात्म का गणित है जो भौतिक गणित से भिन्न है। यह ऐसा गणित है जैसे फूलों से सुगन्ध निकलने से फूल मे कमी नही आती, ज्ञान को देने से ज्ञानी मे कमी नही आती, विद्या को बाँटने से विद्वता मे कमी नही आती, प्रेम, दया, करुणा बांटने से उसमे कोई कमी नही आती। पूरा देने पर भी पूरा ही बच रहता है बल्कि देने से और बढ़ जाता है। तुच्छ के त्याग से

अक्षय निधि मिल जाती है। यहाँ त्याग ही पाने का नियम है, जितना दिया जाता है उसका हजार गुना उसे मिल जाता है, कमी कहीं नहीं होती। 'ज्यों खरचे त्यों-त्यों बढ़े, बिन खरचे घटि जाय' यह ऐसा गणित है जो सामान्य गणित से भिन्न है। सामान्य बुद्धि वाले को यह गणित समझ में नहीं आयेगा। त्याग से कमी नहीं होती, हजार गुना मिल जाता है। भौतिक का त्याग करके वह अध्यात्म सम्पदा का मालिक बन जाता है। कमी कुछ नहीं होती।

आगे कहा गया है 'यह भी पूर्ण है।' यह सम्पूर्ण सृष्टि उस पूर्ण पर-ब्रह्म की अभिव्यक्ति है, उसी का फैलाव है, उसी की रचना है। यह उससे भिन्न नहीं है, उसी का रूप है। रूप भी ऐसा नहीं जो उससे भिन्न हो। पूर्ण की अभिव्यक्ति होने से यह भी पूर्ण है क्योंकि पूर्ण से पूर्ण की ही उत्पत्ति होती है। माता पूर्ण है, वह पूर्ण शिशु को ही जन्म देती है फिर भी उसकी पूर्णता में कमी नहीं आती है। दस-दस पूर्ण बच्चे पैदा करके भी वह पूर्ण बनी रहती है। यह सृष्टि उस ब्रह्म की ऐसी ही रचना है जो पूर्ण है। यह सृष्टि उस ब्रह्म की कृति नहीं बल्कि अभिव्यक्ति है इसीलिए इसमें पूर्णता है। यह उस ब्रह्म से भिन्न नहीं है। बीज में ही समस्त वृक्ष, जड़, तना, पत्ते, फूल और फल समाया हुआ है ऐसी ही यह सृष्टि ब्रह्म में निहित है अव्यक्त एवं असंभूत रूप में। इसका व्यक्त स्वरूप ही सृष्टि है इसलिए वह ब्रह्म से भिन्न नहीं है।

प्रलयकाल में यह सृष्टि पुनः उस ब्रह्म में विलीन हो जाती है तो भी उस ब्रह्म की पूर्णता बढ़ती नहीं क्योंकि सृष्टि उससे भिन्न पदार्थ नहीं है। इसे एक उदाहरण द्वारा समझा जा सकता है—जैसे ऊर्जा का एक विशाल सागर है। उसमें कुछ ऊर्जा कण ठोस होकर पदार्थ रूप में परिणत हो गये। जिससे उस ऊर्जा सागर में क्या कमी आ गई तथा वे पदार्थ पिंड पुनः ऊर्जा में परिवर्तित हो गये तो उस ऊर्जा सागर में क्या वृद्धि हो गई ? ऐसा ही यह चैतन्य ऊर्जा का सागर है जिसे परब्रह्म कहा गया है। वह पूर्ण है, तथा पूर्ण सृष्टि की रचना तथा लय करके भी वह पूर्ण ही बना रहता है।

परब्रह्म परमात्मा के साथ जीवात्मा की एकता का जो बोध है, वही पूर्ण में पूर्ण का प्रवेश है। वह परमात्मा सर्वव्यापक होने से पूर्ण है, जीवात्मा भी उससे अभिन्न होने के कारण पूर्ण ही है। उसमें जो भेद का भ्रम है इसका मिट जाना ही उसकी एकता है। इस एकता की अनुभूति ही पूर्ण में पूर्ण का प्रवेश है। जीवात्मा न उससे पृथक होता है न बाहर से

आकर उसमें विलीन होता है। यह जीवात्मा ब्रह्म रूप होकर ही ब्रह्म में प्रतिष्ठित है। मृतिका में घट की भाँति ब्रह्म में ही जगत् की कल्पना हुई है, इसलिए यह उसी मे स्थित है। जगत दृष्टि का निवारण होकर जो ब्रह्म भाव का साक्षात्कार होता है, वही ब्रह्म में ब्रह्म की प्रतिष्ठा है।

यह जीवन का गणित है जो आइन्स्टीन के गणित से भिन्न है। जीवन के गणित में दो और दो चार ही नही होते, अधिक भी होते हैं व कम भी हो जाते है। वैज्ञानिक गणित से, जिस चित्र को बनाने में दस रुपये खर्च होते है उसका मूल्य लाखो रुपये हो जाता है। इसी प्रकार संगीत, कविता, कला, प्रेम, दया का मूल्य भौतिक शास्त्री नही नाप सकेगा। भौतिक शास्त्री की दृष्टि में शरीर का मूल्य दस रुपये से अधिक नहीं है किन्तु उसका आध्यात्मिक मूल्य इतना है कि उस पर सारी दुनिया की दौलत न्योछावर की जा सकती है।

जिसे सृष्टि के इस रहस्य का पता नही, उसे जीवन का भी कुछ पता नही है। यह जीवन भौतिक वस्तुओं का सग्रह मात्र नहीं है बल्कि यह उस पूर्ण परब्रह्म का ही रूप है। उससे किसी प्रकार भिन्न नही है। जब उसे ऐसा ज्ञान हो जाता है तब वह ब्रह्म ही हो जाता है। सभी भेद गिर जाते हैं तथा वह पूर्ण परमानन्द का अनुभव करता है। अन्यथा उसका मूल्य दस रुपये से अधिक नही है।

ऋषि ने इस सम्पूर्ण सृष्टि का रहस्य इस एक ही सूत्र मे व्यक्त कर दिया जो सम्पूर्ण अध्यात्म का सार निचोड़ है। इससे अतिरिक्त समझने को कुछ भी शेष नही रहता। सिर्फ हमे बोध नही है इसलिए सामान्य गणित मे उलझे रहते है। यदि इस उच्च गणित का ज्ञान हो जाय तो फिर, कुछ भी पाना शेष नही रहता। यह सूत्र समस्त अध्यात्म का सार है, यह न वैज्ञानिको की परिकल्पना है और न सिद्धान्त। यह उच्च जीवन की अनुभूति है। इस सूत्र को जान लेने पर समस्त दुखों का क्षय हो जाता है एवं परमानन्द की अनुभूति हो सकती है। इस रहस्य को जान लेने से शरीर, मन और आत्मा के तीनों ताप शान्त हो जाते है। ऐसा व्यक्ति जो सम्पूर्ण सृष्टि को ब्रह्ममय समझता है वह कर्तापन से मुक्त हो जाता है, उसका अहकार गल जाता है, उसकी वासनायें, तृष्णाएँ क्षीण हो जाती है जिससे वह इस ससार चक्र से मुक्त हो जाता है। बड़ा अद्भुत एवं चमत्कारी मंत्र है, यह जिसमें सम्पूर्ण उपनिषद् का सार समाया हुआ है।

१. "अखिल ब्रह्माण्ड में जो कुछ भी जड़-चेतन स्वरूप जगत् है, यह सभी ईश्वर से व्याप्त है। उस ईश्वर को साथ रखते हुए त्याग पूर्वक इसे भोगते रहो, इसमें आसक्त मत होओ, क्योंकि यह धन-भोग्य पदार्थ किसका है ? अर्थात् किसी का भी नहीं है।"

व्याख्या—पूर्व के शान्ति पाठ में यह बताया गया है कि यह सम्पूर्ण सृष्टि ब्रह्म ही है, उससे भिन्न नहीं है क्योंकि यह उसी की अभिव्यक्ति है। इसी आधार पर इस मन्त्र में उपनिषद् की यह आधारभूत घोषणा है कि यह समस्त जड़-चेतन जगत् ईश्वर का ही है। यह प्रकृति, वनस्पति, पशु-पक्षी, प्राणी, मनुष्य आदि सब उसी परमात्मा के हैं तथा उसी के नियन्त्रण एवं अनुशासन में चल रहे हैं। मनुष्य का इस पर कोई अधिकार नहीं है।

मनुष्य ने अज्ञानवश स्वयं को इस परमात्मा से भिन्न समझ लिया इससे उसमें अहं भावना का उदय हुआ तथा इसी अहं के कारण उसमें 'मैं' भाव आया। इसी 'मैं' भाव के कारण उसमें 'मेरापन' का भाव उत्पन्न हुआ। इसी 'मैं' पन के कारण ही उसमें वासना जाग्रत हुई। मोह, तृष्णा, ईर्ष्या, द्वेष, परिग्रह उत्पन्न हुआ तथा पूरे जगज्जाल का निर्माण हो गया। इसी से दुःखों का विकास होता चला गया तथा अशान्ति बढ़ने लगी। इसके विपरीत ज्ञान प्राप्ति की स्थिति में वह अनुभव करता है कि यह सम्पूर्ण सृष्टि उसी ईश्वर की है, उससे भिन्न नहीं है। ईश्वर से भिन्न मेरा भी कोई अस्तित्व नहीं है। सर्वत्र वही चेतनसत्ता व्याप्त है। ऐसी स्थिति में इस 'मैं' पन के गिरते ही 'मेरा' पन भी गिर जाता है जिससे आसक्ति का नाश हो जाता है। यह आसक्ति ही बन्धन है जिसके गिरने से वह मुक्त होकर ब्रह्म ही हो जाता है। संसार बन्धन नहीं है बल्कि इसके प्रति जो आसक्ति है, जो भोग की वासना है वही बन्धन है तथा यही दुःखों का कारण है। ज्ञानावस्था में जब वह समझ लेता है कि यह सम्पूर्ण सृष्टि ईश्वर की है, वहाँ त्याग घटित होता है। आसक्ति का त्याग ही त्याग है। वस्तुओं का त्याग कोई त्याग नहीं है। उसके पीछे दम्भ है, अहंकार है। जो आपका है ही नहीं, सभी ईश्वर का ही है, फिर आप उसे छोड़ने के अधिकारी किस प्रकार बन गये। अहंकारी के त्याग और भोग दोनों ही अहंकार वश किये जाते हैं तथा अहंकार वश किया गया हर कार्य पाप है, वही कर्म बन्धन है जिसका फल भोगने हेतु बार-बार जन्म मृत्यु का चक्र चलता रहता है। अहं के त्याग के बिना इसका अन्त नहीं हो सकता। इसलिए ऋषि कहते हैं यह सम्पूर्ण सृष्टि ईश्वर की है। इसका त्याग भाव से ही भोग करना चाहिए जिससे आसक्ति नहीं होगी तथा कर्मबन्धन नहीं

होगे। ऐसी भावना का उदय हो जाना ही ज्ञान है तथा इसी ज्ञान से वह मुक्त हो जाता है। मनुष्य ने इस सृष्टि का निर्माण नही किया, प्रकृति को मनुष्य ने पैदा नही किया। मनुष्य ने हवा, पानी, पृथ्वी, अग्नि आदि नही बनाये। उसने खनिज, विद्युत आदि पैदा नही किये। ये सब परमात्मा अथवा प्रकृति से उपहार स्वरूप प्राप्त हुए है। फिर वह किस आधार पर इन्हें मेरा कहता है। मनुष्य का न जीवन पर अधिकार है न मृत्यु पर, न शरीर पर अधिकार है न चेतना पर, न भूख पर अधिकार है न नींद पर, न बचपन पर अधिकार है न जवानी पर, न हृदय की धड़कन पर अधिकार है न श्वांस पर। इस सृष्टि मे ऐसी कोई वस्तु नहीं जिस पर मनुष्य का पूर्ण अधिकार हो गया हो तथा उसकी मर्जी से स्थिर हो गई हो। यह संसार गतिशील है। इसकी गति को मनुष्य रोक नही सकता। यह अपने विशिष्ट नियमों से चल रही है। वह नियंता हो इसका संचालन कर रहा है तथा यह सब उसी का है। उसी की मर्जी से यह चल रही है। इसलिए इसे परमात्मा की समझ कर इसका त्याग भाव से भोग करना चाहिए। इसको अपना समझ लेना अज्ञान है, यही पाप है जिसका फल भोगने के लिए उसे बार-बार जन्म लेना पड़ता है। ईश्वर की समझ कर त्याग भाव से भोग करने पर वह वासना, आसक्ति से मुक्त होकर परम पद का अधिकारी बन जाता है।

विज्ञान कहता है यह सब प्रकृति कर रही है। किन्तु प्रकृति तो जड़ है। वह यन्त्र मात्र है। यन्त्र स्वयं कुछ नही कर सकता। उसका सचालक वह चेतन तत्त्व है। अध्यात्म का पूरा जोर चेतन पर है। चेतन ही सर्वोपरि सत्ता है। जड प्रकृति भी उसी की अभिव्यक्ति है। इसलिए उस परमात्मा की वस्तु को अपना मानना ही पाप है। जो इस प्रकार की भावना से युक्त होकर आसक्ति का त्याग करके भोग करते हैं वे ही भोग के अधिकारी है। अन्य सभी पापान्न का भक्षण ही कर रहे हैं। ऋषि ने एक ही सूत्र मे सृष्टि में जीने एवं मुक्ति का रहस्य बता दिया। इसी विधि का पालन कर लेने मात्र से बिना जप, तप, ध्यान, समाधि आदि के ही वह मुक्ति लाभ प्राप्त कर सकता है। यही परम ज्ञान है। सम्पूर्ण एषणाओं का त्याग कर भोग करना ही ज्ञाननिष्ठा है।

२. "इस लोक में कर्म करते हुए ही सौ वर्ष जीने की इच्छा करे। इस प्रकार मनुष्यत्व का अभिमान रखने वाले तेरे लिए इसके सिवा और कोई मार्ग नहीं है, जिससे तुझे कर्म का लेप न हो।"

व्याख्या—संसार में जीने के दो ही मार्ग हैं—निवृत्ति मार्ग तथा प्रवृत्ति लक्षण धर्म मार्ग। प्रथम सूत्र में निवृत्ति मार्ग का वर्णन है कि जो संन्यास ले चुके हैं, जिनको आत्मबोध हो गया है, जिनको जीवात्मा, सृष्टि और जगत के एकत्व का बोध हो गया है उसे सम्पूर्ण जगत् को ईश्वर का ही समझ कर उसका त्याग भावना से भोग करना चाहिए जिससे वासना, आसक्ति न रहे। ऐसा संन्यासी परमपद का अधिकारी होता है। यह ज्ञान की निष्ठा है।

किन्तु जो संसारी है, जिनको देहाभिमान है, जिनको मनुष्यत्व का अभिमान है, जिसको अज्ञान के कारण सृष्टि और ईश्वर में भेद दिखाई देता है उसके सभी कर्म बन्धन के कारण होते हैं क्योंकि उसमें अहंकार होने से कर्तापन विद्यमान है। कर्म बन्धन नहीं है, कर्तापन बन्धन है। ऐसे व्यक्ति के लिए इस मंत्र में निर्देश है कि वह यदि सौ वर्ष जीने की इच्छा रखता है तो उसे कर्म करते हुए ही जीना चाहिए। यहाँ कर्म का अर्थ अग्नि होत्रादि कर्म से है जो ईश्वर के लिए किये जाते हैं। जो कुछ इस सृष्टि में ईश्वर की कृपा से प्राप्त किया है उसका ईश्वर को समर्पित करके ही भोग करने से वह कर्म फल का भोक्ता नहीं होता। जो इस प्रकार शास्त्र विहित कर्म करता है, ईश्वर की आज्ञा समझकर कर्त्तव्य समझकर, ईश्वर को कर्म फल समर्पित करके, फलाकांक्षा रहित होकर, अहं एवं कर्तापन का त्याग करके जो कर्म किये जाते हैं वे कर्म अपना फल नहीं देते। इस प्रकार अज्ञानी को कर्म करके ही जीने का अधिकार है। कर्म को बंधन स्वरूप समझ कर उनका त्याग कर देना शास्त्र सम्मत नहीं है बल्कि ऐसा त्याग भी अहंकार वश किया जाता है अतः वह भी बन्धन का कारण होता है। मनुष्य की आयु सौ वर्ष मानी गई है इसलिए पूरे जीवन काल को सद्कर्म करते हुए ही व्यतीत करना चाहिए। भोगेच्छा, वासना तथा आसक्ति पूर्वक किये गये कर्म ही बन्धन का कारण बनते हैं व उनका फल भोगना पड़ता है। संसारी व्यक्ति के लिए कर्म बन्धन से मुक्त होने का अन्य कोई मार्ग नहीं है। यही प्रवृत्ति मार्ग है—कर्म करके भी उनसे लिप्त नहीं होना। जो भी कर्म किये जायें उन्हें प्रभु को अर्पित करके करे, कर्तापन न हो, काजल की कोठरी में रहकर भी कालिख न लगे, जल में कमल की भाँति रह कर जिए, ऐसे कर्म उसे लिप्त नहीं करते। कर्म को छोड़ना असंभव है एवं ईश्वरीय नियम के विपरीत भी है। ऐसी स्थिति में एक ही मार्ग है कर्तापन को छोड़कर कर्म करते रहें। अन्य कोई मार्ग संसारी के लिए नहीं है। संसार को अभिनय समझ कर अभिनेता की भाँति जिए, वह कर्म करते

हुए भी मुक्त हो जाता है। इस सूत्र का सार यही है कि कर्म बन्धन नही है। उसके पीछे जो आसक्ति है, वासना है, कर्तापन है वही बन्धन है। इनके त्याग से कर्म बन्धन नही होता। वह अछूता जीता है। संसार उसे छू भी नहीं सकता। कबीर ने यही कहा है—'ज्यो की त्यों धरि दीन्ही चदरिया।' कुछ भी लिपायमान नही होने दिया, व जीवन भर कर्म करते रहे। ऋषि का यही कथन है। अज्ञानी के लिए कर्म निष्ठा ही श्रेष्ठ है जो मुक्ति का मार्ग है।

३. "वे असुर सम्बन्धी लोक आत्मा के अदर्शन रूप अज्ञान से आच्छादित हैं। जो कोई भी आत्मा का हनन करने वाले लोग हैं, वे मरने के अनन्तर उन्हे प्राप्त होते हैं।

व्याख्या—आरम्भ के दो सूत्रों में मुक्ति की दो निष्ठाएँ बतलाई गई हैं। पहली ज्ञाननिष्ठा है जो सन्यासी का मार्ग है। इसमे आत्मज्ञानी पुरुष को सम्पूर्ण सृष्टि को ईश्वर की समझ कर उसका त्याग भाव से भोग करने की बात कही है। दूसरा मार्ग ससारी का है जो कर्मनिष्ठा है। इसमें कर्म करते हुए भी किस प्रकार उनसे लिप्त नही होने की बात कही गई है।

इस सूत्र मे बताया गया है कि इन दोनों से भिन्न कर्म करने वाले व्यक्ति जो अज्ञानी है, जिन्हें आत्मबोध नही हुआ है, जो शरीर में ही जीते हैं तथा उनके सारे कर्म और भोग शरीर रक्षा के लिए ही होते हैं ऐसे व्यक्ति आत्मा का हनन करने वाले हैं। जो संसार मे सब कुछ जानकर भी स्वय की आत्मा को नही जान पाया वह आत्महता है। ऐसे लोग ही अपने कर्मों का फल भोगने के लिए बार-बार जन्म लेते है तथा मृत्यु के उपरान्त असुर नामक लोको में प्रवेश करके महान् दुःख पाते है। ये असुर लोक आत्मा के ज्ञान के अभाव में अन्धकार रूप है। जो आत्मज्ञानी नही है, वह अज्ञानी जीव इन लोको मे प्रवेश करता है। ये अपने ज्ञान एव कर्म के अनुसार ही फल भोगते हुए नाना योनियो मे जन्म लेकर कष्ट भोगते रहते हैं। सभी अज्ञानी आत्मघाती हैं जिन्होने अपने स्वरूप (आत्मा) को नहीं जाना है व उसकी उपेक्षा कर शरीर मात्र का ही पोषण करते हैं ऐसे ही अज्ञानी आत्महता है जो आत्मा को जाने विना अज्ञान मे ही जी रहे हैं। ऐसे ही लोग कर्मो से लिप्त होकर असुर लोक को प्राप्त होकर जन्म-मृत्यु रूपी कष्टो को भोगते हैं।

इस प्रकार कर्म करने वाले अज्ञानी के भी दो मार्ग हो जाते हैं। एक वह जो कर्तापन को छोड़कर ईश्वरेच्छानुसार कर्म करता है वह कर्म फल

का भोक्ता नहीं होता जैसा सूत्र २ में बताया गया है। दूसरा वह आत्म-हंता है जो भोगों की दृष्टि से ही कर्म करता है। वह कर्म फल का भोक्ता होता है।

४. "वह परमेश्वर अचल, एक तथा मन से भी अधिक गति वाला है। सबसे आदि, ज्ञान स्वरूप या सबके जानने वाला है। इस परमेश्वर को देवता भी नहीं पा सके हैं या जान सके हैं। वह दूसरे दौड़ने वालों का स्वयं स्थित रहते हुए भी अतिक्रमण कर जाता है। उसके होने पर ही उसकी सत्ता-शक्ति से वायु आदि देवता, जल, वर्षा आदि क्रिया सम्पादन करने में समर्थ हैं।"

व्याख्या--इस मन्त्र में परब्रह्म के स्वरूप का वर्णन किया गया है। वह परमात्मा एक तथा अचल है। वह अचल होते हुए भी सर्वाधिक गति-मान है, मन से भी अधिक गति वाला है अर्थात वह सर्वत्र व्याप्त होने से जहाँ मन पहुँचता है वहाँ उससे भी पहले वह पहुँचा हुआ है तथा जहाँ मन की भी पहुँच नहीं है वहाँ भी वह विद्यमान है। वह सबसे आदि है। सम्पूर्ण सृष्टि, मन, बुद्धि, अहंकार, चित्त आदि से भी पहले विद्यमान था। वह ज्ञान स्वरूप है। सम्पूर्ण ज्ञान का वही आधार है इसलिए वह सबको जानने वाला है किन्तु उसे पूर्ण रूप से कोई नहीं जान सकता, देवता भी नहीं जान सकते। उसको जानने के लिए मन, बुद्धि, इन्द्रियों आदि से सब दौड़ लगाते हैं फिर भी वह इन सबका अतिक्रमण कर आगे निकल जाता है अर्थात इनकी पकड़ में नहीं आता। वह सब में आत्मरूप में स्थित होते हुए भी सबकी पहुँच से बाहर है। संसार की समस्त क्रियाओं का वही आधार है। उसी की सत्ता से वायु आदि देवता, जल, वर्षा आदि क्रियाओं का सम्पादन होता है। वह असीम है। उसका ज्ञान ससीम को कैसे हो सकता है? जगत् की समस्त क्रियाएँ उसकी सत्ता से ही हो रही हैं।

उस परब्रह्म के ही दो स्वरूप हैं। एक स्थिर तथा दूसरा गतिशील। जब वह शान्तावस्था में होता है तब 'ब्रह्म' कहा जाता है जब उसका स्पन्दन होता है तो वह सृष्टि की रचना करता है। सृष्टि की समस्त क्रियाएँ उसकी सत्ता से ही होती हैं जो स्थिर तत्त्व है। इसलिए उसे स्थिर तथा गतिशील दोनों माना गया है। निरुपाधिक रूप से वह अचल तथा एक है तथा सोपाधिक होकर वह सृष्टि का कर्ता, पालक तथा संहारक बन जाता है। यह सृष्टि उसी से गतिशील एवं क्रियाशील है। वह धरी है

जिसके बल पर ही यह सृष्टि-चक्र गतिशील होता है अन्यथा यह जड़-प्रकृति स्वयं गतिशील होने में असमर्थ है। यह परमात्म तत्त्व ऐसा है जो स्वयं स्थिर रहकर ही सबको गति प्रदान करता है। चाक धुरी के सहारे ही घूमता है, चक्रवात के केन्द्र का शून्य ही उसको गति देता है, इसी प्रकार हमारा मन, इन्द्रियाँ, शरीर, विचार, वासनाएँ, वृत्तियाँ तथा सम्पूर्ण जीवन इसी की धुरी पर घूमता है। यही स्थिर तत्त्व शरीर में आत्मा तथा समष्टि में परब्रह्म कहलाता है। वह स्थिर है, पूर्ण है जो सबके आदि मे था। उसी से इन सबका विकास हुआ है। वही सबका मालिक है, अन्य सभी उसके सेवक है। इसलिए मालिक नौकर को जान लेता है, नौकर मालिक को नही जान सकता। इसी कारण इन्द्रियों से वह नही जाना जा सकता। दौड़ कर उसे नहीं जान सकते। समस्त चित्त वृत्तियों का निरोध करके शान्तावस्था मे, अपनी अवस्था में ही उसे जान सकते हैं।

५. "नहीं चलता, वह आत्मतत्व, फिर भी वही चलता है, वह निकटतम है फिर भी दूर है, वह सबके अन्तर्गत है और इस समस्त जगत के बाहर भी है।"

व्याख्या—यह सूत्र समस्त वेदात और उपनिषदो का महावाक्य है जिसमे परब्रह्म के स्वरूप को व्यक्त किया गया है। यही एक ऐसा सारभूत तथ्य है जिसे समझ लेने पर सम्पूर्ण सृष्टि की रचना, उसका क्रम तथा कार्य प्रणाली समझ मे आ जाती है। यदि उसमें ये विरोधी भाव न होते तो सृष्टि की रचना ही असंभव हो जाती, अथवा उसको पाना असंभव हो जाता। ये विरोधी भाव ही सत्ता है, यही अस्तित्व है। यह तथ्य है, तर्क से इसे नही समझा जा सकता। सीमित बुद्धि से किया गया तर्क उस असीम की सत्ता को नही जान सकता। जहाँ तर्क समाप्त होता है वही प्रज्ञा का प्रकाश होता है। इस क्षुद्र बुद्धि के आधार पर बुद्धिमत्ता का दावा करना एक मात्र मूढता है। मूढों के अतिरिक्त बुद्धिमान होने का दावा कोई नही करता। बुद्धिमान कभी बुद्धिमत्ता का दावा नहीं करता क्योंकि वह यह जान जाता है कि कई तथ्य ऐसे है जो बुद्धि की पकड़ मे आते ही नही, उनके बारे में सत्य-निर्णय तर्क से लिया ही नही जा सकता। वे अतर्क्य, अचिन्त्य, अग्राह्य ही बने रहते है।

तर्क कहता है विपरीत चीजें एक साथ नहीं हो सकती। प्रकाश और अन्धकार, ठंडा और गर्म, जीवन और मृत्यु, स्थिति और गति, समीप और दूर, भीतर और बाहर, सुख और दुःख, प्रेम और घृणा, आदि एक साथ

नहीं हो सकते। किन्तु ये अन्तर वाह्य हैं। भीतर से सब संयुक्त है। उच्च वोध प्राप्ति के बाद ही इन्हें समझा जा सकता है। आज विज्ञान भी कहता है प्रकाश और अन्धकार भिन्न नहीं हैं, मात्र डिग्री का अन्तर है, गर्म और ठंडे में भी डिग्री का ही अन्तर है। इलेक्ट्रोन के कण स्थिर भी हैं और गतिशील भी हैं, गाड़ी में बैठा हुआ मनुष्य स्थिर भी है और गति भी कर रहा है। जीवन और मृत्यु भी एक साथ घट रही है। जिस दिन पैदा होता है उसी दिन से वह मरना भी आरम्भ हो जाता है। एक-एक क्षण वह मरता जा रहा है। एक साथ हम जी भी रहे हैं और मर भी रहे हैं। ऐसी ही उपनिषदों की घोषणा है जो सामान्य तर्क से समझ में नहीं आयेगी। ये तथ्य हैं, निष्पत्तियाँ हैं।

उपनिषद् का ऋषि कहता है वह परमात्मा निर्गुण रूप से अचल है तथा सगुण रूप से, साकार रूप से प्रकट होकर लीला करते हैं। श्रद्धा प्रेम से रहित मनुष्यों को दर्शन नहीं देते। वे उनसे अति दूर हैं। सैकड़ों जन्मों की तपस्या के बाद भी नहीं मिलते इतने दूर हैं तथा स्वयं की अन्तरात्मा में स्थित होने के कारण सबसे समीप हैं। थोड़ी सी भी करुण पुकार सुनकर उसी समय प्रकट हो जाते हैं। अतः वे समीप-से-समीप हैं। ऐसा कोई स्थान नहीं जहां वे न हों। वे सबके अन्तर्यामी होने से सबके समीप हैं किन्तु अज्ञानी लोगों की वहाँ तक पहुँच नहीं है इसलिए वे दूर से भी दूर हैं। वे ही सम्पूर्ण जगत् के आधार हैं इससे वे बाहर भी हैं तथा स्वयं के भीतर आत्मरूप में स्थिति होने से भीतर भी हैं। वे सर्वत्र व्याप्त हैं। सृष्टि का ऐसा कोई कण नहीं जिसमें वे न हों। उस परब्रह्म की ऐसी अद्भुत महिमा है।

यह तर्क नहीं है तथ्य है। तर्क गलत हो सकता है इससे तथ्य गलत नहीं हो जाता। तर्क से तथ्य को नहीं समझा जा सकता। तर्क वुद्धि की उपज है जो सीमित है। वह उस असीम, विराट् को समझने में सर्वथा असमर्थ है अतः वुद्धि और तर्क से उसे जानने का दुराग्रह ही छोड़ देना चाहिए। जिसने तथ्य जान लिया उसके तर्क समाप्त हो जाते हैं। तर्क करने वाले सदा सत्य से, तथ्य से अपरिचित रहते हैं। वे तर्क में ही उलझे रहते हैं। सत्य के खोजी को तर्क पर विश्वास न करके तथ्यों को ग्रहण करने की आदत होनी चाहिए। यह सूत्र वुद्धि से परे का है। अतः तर्क का आग्रह छोड़कर इसे तथ्य रूप में स्वीकार कर लेना चाहिए। यही परम सत्य है जिसका उपनिषदों में उद्घाटन किया गया है। यह महावाक्य है, परम वचन है। यही परब्रह्म का स्वरूप है।

६. "जो सम्पूर्ण भूतों को आत्मा में ही देखता है और समस्त भूतों में भी आत्मा को ही देखता है, वह इसके कारण ही किसी से घृणा नहीं करता।"

व्याख्या—घृणा भी अहंकार के कारण पैदा होती है। जो हमारे अहंकार पर चोट करता है, जिससे हमारी अपेक्षाएँ पूरी नही होतीं, जो हमारे स्वार्थ पूर्ति में बाधक बनते हैं उन्ही से हम घृणा करने लगते हैं। ये वासनाएँ, अपेक्षाएँ, स्वार्थ, लोभ, सभी अहकार के कारण पैदा होते हैं कि हम कुछ पाना चाहते है, स्वयं को भरना चाहते है। जो इनमें बाधक बनता है। उससे घृणा होने लगती है। किन्तु जो ज्ञानी है, जिसने आत्मतत्त्व को जान लिया उसमे 'मैं' और 'तू' का भेद ही मिट जाता है। वह सदा एकत्व भाव में स्थित हो जाता है। वह अनुभव करता हैं कि मेरी व उसकी आत्मा भिन्न नही है। यह सम्पूर्ण सृष्टि उसी परमेश्वर की है। जिस प्रकार हाथ-पैर, आँख, कान आदि भिन्न होते हुए भी एक ही शरीर का अंग है तथा एक के विकृत होने पर इसका प्रभाव सम्पूर्ण देह एवं उसके कार्य पर पडता हैं वैसे ही वह सम्पूर्ण भूत सृष्टि को उसी परमात्मा का हिस्सा समझता है। जिस प्रकार हम शरीर के किसी अंग से घृणा नही करते क्योंकि सब की शरीर के लिए उपयोगिता है ऐसा ही ज्ञानी पुरुष सब भूतों मे आत्मा के ही दर्शन करता हुआ किसी से घृणा नही करता तथा वह यह भी जान लेता है। कि इस आत्मा (ब्रह्म) में ही सभी भूत समाहित है। भिन्नता हमें अज्ञान वश दिखाई देती हैं। जिस प्रकार एक ही माँ-बाप से उत्पन्न सन्ताने स्वार्थ वश ही परस्पर द्वेष करती है तथा अज्ञान वश ही अपने को भिन्न समझती है, यह वैसा ही अज्ञान है जैसे एक वृक्ष की दो शाखाएँ अपने को भिन्न समझे अथवा हाथ-पैर, आँख-कान आदि अपने को एक दूसरे से भिन्न समझे। अज्ञानी को ही ऐसी भिन्नता ज्ञात होती हैं। इसलिए वह एक दूसरे से घृणा करता है। ज्ञानी इस अज्ञान से मुक्त हो जाता हैं। उसे सम्पूर्ण सृष्टि में एकत्व का अनुभव हो जाता है। इसलिए वह किसी से घृणा नही करता।

७. "जिस समय ज्ञानी पुरुष के लिए सब भूत आत्मा ही हो गये, उस समय एकत्व देने वाले को क्या शोक और क्या मोह हो सकता है।"

व्याख्या—इस मन्त्र मे भी ज्ञानी पुरुष के लक्षण बताये गये हैं कि जिसको आत्मा का सम्यक् ज्ञान हो गया उसमें सर्वत्र एकत्व भाव आ जाता

है। वह समस्त सृष्टि में विभिन्नता न देख कर सर्वत्र आत्मा को ही देखता है। फिर शोक और मोह कैसे हो सकता है। जब दो हैं ही नहीं तो शोक और मोह का क्या कारण हो सकता है? शोक और मोह अज्ञानी को ही होते हैं जिसने आत्मा को नहीं जाना। शरीर में ही आत्म बुद्धि होने से शोक और मोह होता है अन्यथा नहीं। शोक और मोह आत्मा का धर्म नहीं यह मन की वृत्ति है। मन कामना युक्त है, इसी से शोक और मोह होता है। जहाँ कोई कामना ही नहीं, वहाँ इसके होने का कारण ही नहीं है। मोह से ही शोक होता है। उस परम तत्त्व को जान लेने पर जब मोह ही समाप्त हो जाता है फिर शोक किस प्रकार होगा? ज्ञानी आत्मा में स्थित रहता है जिससे वह मन के पार हो जाता है, कामना से ऊपर उठ जाता है इसलिए मोह और शोक उसको नहीं होते।

८. **"वह आत्मा सर्वगत, शुद्ध, अशरीरी, अक्षत, स्नायु से रहित, निर्मल, सर्वद्रष्टा, सर्वज्ञ, सर्वोत्कृष्ट, और स्वयं भू है। उसी ने नित्य सिद्ध संवत्सर नामक प्रजापतियों के लिए यथायोग्य रीति से अर्थों (कर्तव्यों अथवा पदार्थों) का विभाग किया है।"**

व्याख्या—इस मंत्र में आत्मा का स्वभाव बतलाया गया है कि वह आत्मा उपरोक्त गुणों वाली है तथा स्वयभू है। वह स्वयं ही उत्पन्न हुआ है। आत्मा और परमात्मा दो भिन्न तत्त्व नहीं हैं। स्वयं के भीतर जो स्वयभू चेतन तत्त्व है उसे 'आत्मा' कहते हैं तथा समष्टि चेतन को ही 'परमात्मा' कहा जाता है। जिसका निर्माण होता है वह आत्मा नहीं है। जो स्वयं भू तत्त्व है वही आत्मा है। उसे किसी ने नहीं बनाया, उसी से सब बने हैं। अध्यात्म के अनुसार यह एक ही तत्त्व है। अन्य सब यौगिक है। मिश्रण है। विज्ञान के एक सौ आठ तत्त्व भी यौगिक ही हैं। वे परमाणुओं का जोड़ है तथा परमाणु भी तत्त्व नहीं है वह इलेक्ट्रोन्स, प्रोटोन्स व न्यूट्रोन्स का जोड़ ही है। विज्ञान अभी पूर्णता को नहीं पहुंचा है। सृष्टि का मूल तत्त्व ऊर्जा नहीं बल्कि यह चेतन तत्त्व है। भौतिक ऊर्जा भी इसी चेतन का अंग है। इस चेतन तत्त्व को न बनाया जा सकता है न मिटाया जा सकता है। यही एक तत्त्व है जिससे सृष्टि की रचना होती है। मनुष्य और मशीन में चेतना का अन्तर है। यह चेतना ही आत्म तत्त्व है। इसको पाना ही परमगति है। आगे कोई गति नहीं है। यह सृष्टि का अंतिम छोर है, आरम्भ है, जहाँ से यात्रा आरम्भ होती है। उसी ने नित्य

सिद्ध प्रजापतियों के लिए कर्तव्यों तथा पदार्थों का उनकी योग्यतानुसार पृथक-पृथक बंटवारा किया है। प्रजापतियो से ही सृष्टि रचना आरम्भ होती है।

९. **"जो अविद्या की उपासना करते हैं वे घोर अन्धकार में प्रवेश करते हैं, और जो विद्या में ही रत हैं, वे मानो उससे भी अधिक अन्धकार में प्रवेश करते हैं।"**

व्याख्या—मंत्र संख्या २ में बताया गया है कि अज्ञानी जीव को कर्म करते हुए ही सौ वर्ष जीना चाहिए तथा यह भी स्पष्ट किया गया है कि ऐसे कर्म जो निष्काम भाव से किये जाते हैं उनसे कर्म का लोप नही होता। कर्मों में आसक्ति न रखना, फलाकांक्षा त्याग पूर्वक जो कर्म किये जाते है वे ही बन्धन मुक्त कर्म हैं। अन्य सभी कर्म बन्धन का कारण होते हैं।

इस सूत्र में यह स्पष्ट किया गया है कि वे कर्म जो आसक्ति फलाकांक्षा से किये जाते है, जो वासना पूर्ति हेतु किये जाते हैं, जो इस लोक का था स्वर्गादि भोगो की प्राप्ति के हेतु किये जाते हैं वे सभी कर्म 'अविद्या' हैं क्योंकि इनसे भोगों की ही प्राप्ति का फल मिलता है, ईश्वर प्राप्ति नही होती। सभी सकाम कर्म 'अविद्या' है। इस प्रकार जो व्यक्ति सकाम भाव से कर्म करते हैं वे 'अविद्या' के ही उपासक है। ऐसे लोग जन्मो-जन्मो तक अज्ञान रूपी अन्धकार में भटकते रहते है। वे स्वर्ग-नरक और जन्म-मृत्यु के चक्र से कभी मुक्त नही हो सकते क्योंकि हर कर्म अपना फल दिये बिना नही रहता। इसलिए ऐसे व्यक्तियों की मुक्ति की संभावना नही रहती, न उन्हें कभी ज्ञान होता है।

दूसरे प्रकार के वे लोग हैं जो इन कर्मो को ही छोड़ कर केवल विद्या मे ही रत रहते हैं। अज्ञानी के लिए कर्मों का ही विधान है। ज्ञान प्राप्ति के बाद भी त्यागपूर्वक भोग करने का विधान है। वासना-युक्त भोग करने का अथवा सकाम कर्म करने का सर्वथा निषेध किया गया है जैसा मंत्र संख्या १ में स्पष्ट किया गया है। किन्तु इसके विपरीत वे अज्ञानी हैं जिसको ज्ञान तो प्राप्त हुआ नही किन्तु वे कर्म को छोड़कर (अविद्या की उपासना छोड कर) केवल विद्या में ही रत रहते हैं; वे पुस्तकीय ज्ञान के आधार पर कर्मों को बन्धन का कारण मानकर उन्हें छोड़ देते है तथा ज्ञान प्राप्ति हेतु केवल विद्या की ही उपासना करते हैं। ऐसे व्यक्ति कर्तापन के अभिमान से मुक्त न होने के कारण तथा अहंकार युक्त होने के कारण न उनकी अन्तःकरण की शुद्धि होती है, न वे विवेक-वैराग्य के साधनों का ही

सेवन करते हैं जिससे उनमें पुस्तकों के पढ़ने से ज्ञान का मिथ्या भ्रम हो जाता है तथा उनका अहंकार और बढ़ जाता है। वह अपने को झूठा ज्ञानी मान बैठता है। वह कर्तव्य कर्मों का त्याग कर मनमाना आचरण करने लगता है। ऐसा दंभी व्यक्ति सकाम कर्म करने वाले अविद्या के उपासक अज्ञानी से भी अधिक अन्धकार में प्रवेश करते हैं। ऐसे व्यक्तियों की सकाम कर्म करने वालों तथा भोगेच्छा से कर्म करने वालों से भी अधिक दुर्गति होती है। इसका सार यही है कि अज्ञानी को कर्म का किसी भी प्रकार से त्याग नहीं करना चाहिए। मंत्र संख्या २ के अनुसार निष्काम कर्म करके उनसे लिप्त न होना ही मार्ग है। कर्म त्याग अज्ञानियों का मार्ग ही नहीं है। जो अज्ञानी कर्म का त्याग कर केवल विद्या की ही उपासना करते हैं वे दुर्गति को ही प्राप्त होते हैं।

उपनिषदों में 'अविद्या' उसको कहा गया है जिससे अन्य सब कुछ जान लिया जाता है। संसार का समस्त ज्ञान एवं कर्म जो भोग प्राप्ति के लिए सकाम भाव से किया जाता है वह सभी 'अविद्या' है। इसके विपरीत जिससे आत्मा का ज्ञान होता है, जिससे स्वयं को जाना जाता है वही 'विद्या' है। अविद्या की उपासना से बन्धन होता है तथा विद्या से मुक्त होता है। इसलिए विद्या की उपासना में निष्काम कर्म ही एक मात्र मार्ग है, कर्म त्याग मार्ग नहीं है। अविद्या की उपासना संसार के लिए उपयोगी है किन्तु आत्मज्ञान के लिए पर्याप्त नहीं है। इसे विद्या में बदलना है। समस्त कर्मों को ऐसा बना देना है कि वे भोगों का साधन न बन कर आत्मज्ञान का साधन बन सके।

अज्ञानी अधिक नहीं भटकता किन्तु ज्ञान का दंभ करने वाला, झूठा ज्ञानी अधिक भटकता है। अज्ञान में नम्रता होती है, अहंकार भी कम होता है, वह व्यावहारिक भी होता है, उसमें सेवा भावना भी होती है। अज्ञानी में अहंकार कम होने से वह अपनी गलती भी मान लेता है, अपनी गलती को सुधार भी लेता है, उसे अज्ञान का बोध भी होता है जिससे वह उसे सुधारने का उपाय भी कर लेता है। अज्ञान का स्मरण हो जाने पर ज्ञान के द्वार खुलते हैं। अज्ञानी के लिए ज्ञान का अवसर है। वह अपने अज्ञान को झूठा तर्क देकर सत्य सिद्ध करने का प्रयत्न नहीं करेगा इसलिए वह अधिक अन्धकार में नहीं भटकता। इसके विपरीत विद्या में जो रत रहता है उसका अहंकार बढ़ जाता है। वह नया कुछ सीखना व जानना भी नहीं चाहता, वह दूसरा को अज्ञानी, पापी समझने लगता है। उसे झूठा भ्रम हो जाता है कि मैं ज्यादा जानता हूं, मैं पंडित हूं, विद्वान हूं, ईश्वर

को मैंने जान लिया है, मैं पूजा, पाठ, प्राणायाम, साधना करता हूं इसलिए मैं ईश्वर के समाप पहुंच गया हूं। उसकी नम्रता, सीखने की जिज्ञासा ही समाप्त हो जाती है। वह अहंकारी वन जाता है। वह अपनी गलती मानता ही नही। झूठे तर्क देकर दूसरो को अपनी ही वात मनवाने का उसका आग्रह रहता है। वह न व्यावहारिक होता है न सेवा भावी। ऐसे व्यक्ति के ज्ञान के द्वार सदा के लिए बन्द हो जाते है। इसलिए उपनिषद का ऋषि कहता है कि जो अज्ञानी कर्मों को छोड़कर केवल विद्या मे रत है वह महा-अन्धकार मे प्रवेश करते हैं। उसकी ज्ञान की यह अकड समाप्त हुए बिना उसके ज्ञान के द्वार खुलते ही नही। यह ज्ञान का झूठा भ्रम जो अहकार के कारण पैदा हो गया है वही उसके महा-अन्धकार मे प्रवेश करने का कारण वन जाता है। वह ज्ञानी नही दंभी बनकर रह जाता है।

१०. "विद्या से और ही फल वतलाया गया है तथा अविद्या से और ही फल वतलाया है, ऐसा हमने वुद्धिमान पुरुषों से सुना है, जिन्होने हमारे लिए उसकी व्याख्या की थी।"

व्याख्या—इस मंत्र में 'विद्या' और 'अविद्या' के भिन्न-भिन्न फल वतलाये गये हैं। अविद्या का अर्थ कर्म की उपासना है। यहां कर्म का अर्थ अग्नि होमादि कर्मकाण्ड से है जो व्यक्ति अग्नि होमादि कर्मकाण्ड के ही उपासक हैं तथा उसी का अनुष्ठान करते हैं वे आत्मज्ञान से वंचित रहते हैं क्योंकि कर्म से आत्मज्ञान नही होता। ये 'विद्या' के विरोधी है। इनसे देवलोक की प्राप्ति होती है क्योंकि इनके पीछे कामना है, फलाकांक्षा है। किन्तु जो इस कर्मकाण्ड को छोड़कर केवल विद्या यानि ज्ञान की उपासना में ही रत है वे महाअन्धकार में प्रवेश करते है।

सर्वोत्तम फल है आत्मज्ञान, अपने यथार्थ स्वरूप का ज्ञान। संसार से पूर्ण विरक्त होने पर विवेक जाग्रत होकर साधक को नित्यानित्य का ज्ञान हो जाता है। वह उस परम चेतन तत्त्व परब्रह्म को जान लेता है जिससे ससार की भेद दृष्टि समाप्त होकर एकत्व का अनुभव हो जाता है। इस परमज्ञान की प्राप्ति के दो मार्ग वतलाये गये है—विद्या में ही रत रहना तथा अविद्या (कर्म) की ही उपासना करना। दोनों के भिन्न-२ फल ऊपर वताये गये हैं कि विद्या में रत रहने से देवलोक की प्राप्ति होती है तथा सकाम भाव से अविद्या (कर्मो) मे ही रत रहने से ज्ञान प्राप्ति नही होती, पितृ लोक की ही प्राप्ति होती है। उसका फल भोगने हेतु पुनर्जन्म होता रहता है। इस प्रकार विद्या और अविद्या दोनों में से एक की ही उपासना

करने से मुक्ति लाभ नहीं होता। क्योंकि दोनों ही कर्म; फल देने वाले हैं। किन्तु दोनों के फल भिन्न-२ हैं। इसलिए अज्ञानी को ज्ञान प्राप्ति के लिए निष्काम भाव से, फलाकाँक्षा का त्याग करते हुए अविद्या (कर्म) तथा विद्या (ज्ञान) दोनों में रत रहने से ही ज्ञान लाभ होता है। अतः अज्ञानी के लिए किसी भी प्रकार से कर्म का त्याग नहीं करना चाहिए। ज्ञानाभिमान में रत स्वेच्छाचारी मनुष्य जो शास्त्र विहित कर्मों का त्याग कर देता है उसकी सकाम कर्म करने वालों से भी अधिक दुर्गति होती है। इससे ज्ञान नहीं होता। शास्त्र विहित कर्मों के करने से दुर्गुणों का क्षय होकर अन्तः-करण शुद्ध होता है तभी विद्या में रत रहने का फल प्राप्त होता है। सकाम एवं भोगेच्छा से किये गये कर्मों का तथा निष्काम भाव से कर्तव्य कर्मों को करने के भिन्न-भिन्न फल होते हैं। ऐसा विद्वान लोग (ज्ञानी) कहते हैं।

११. "जो विद्या और अविद्या—इन दोनों को ही एक साथ जानता है, वह अविद्या से मृत्यु को पार करके विद्या से अमरत्व प्राप्त कर लेता है।"

व्याख्या—ऊपर के सूत्रों में विद्या और अविद्या—दोनों की उपासना के भिन्न-२ फल बतलाये गये हैं। ये ही ज्ञान और कर्म की दो विधियाँ हैं जिनको सम्यक् प्रकार से जानकर ही उनकी उपासना करने से अमृत की उपलब्धि होती है। कर्म का रहस्य यही है कि सकाम तथा भोगेच्छा से किये गये कर्म ही स्वर्ग, नरक एवं पुनर्जन्म का कारण होते हैं। आसक्ति एवं वासना द्वारा किये गये कर्म ही दुर्गति का कारण बनते हैं। किन्तु निष्काम कर्म, जो फलेच्छा का त्याग करके ईश्वरीय कर्म समझ कर किये जाते हैं उनसे अन्तःकरण शुद्ध होता है जिससे वे ज्ञान प्राप्ति में सहायक होते हैं। इसलिए ऐसे कर्म अनिवार्य हैं जिनका त्याग कर देने से उपलब्धि नहीं होती। जो लोग मूढ़तावश ज्ञान-प्राप्ति हेतु समस्त कर्मों का ही त्याग कर देते हैं वे अज्ञान अंधकार में ही भटकते रहते हैं। उनको ज्ञान का प्रकाश नहीं होता। निष्काम कर्म से ही मृत्यु को पार कर जाते हैं क्योंकि इनसे कर्म बन्धन नहीं बनते तथा-क्रियमाण कर्मों का संचय नहीं होता। अतः सकाम कर्म तो बाधक हैं, किन्तु निष्काम कर्म मृत्यु को पार करने में सहा-यक हैं। उनका त्याग करना वर्जित है।

इस प्रकार से जो समस्त कर्मों का त्याग कर ज्ञानाभिमानी मनुष्य शास्त्र पढ़कर अपने को ज्ञानी होने का दंभ करने लगता है उसकी सबसे

अधिक दुर्गति होती है क्योंकि उसका अहंकार तीव्र हो जाता है। अहंकार के रहते उसे ज्ञानामृत की उपलब्धि नही होती। कर्म त्याग से कर्म बन्धन से छुटकारा नही हो सकता, आसक्ति त्याग से होता है। जो अपने को ज्ञानी समझकर मनमाना आचरण करने लगता है वह और पाप का भागी ही होता है तथा वे कर्म बन्धन और दृढ़ हो जाते हैं।

अतः ज्ञान और कर्म को तत्त्व रूप से एक साथ समझकर दोनों की साथ-२ उपासना से ही परब्रह्म रूपी अमृत की उपलब्धि होती है। इस प्रकार निष्काम कर्म से वह कर्तापन के अभिमान, राग-द्वेष तथा कामना रहित हो जाने से वह मृत्यु को पार कर जाता है तथा आत्म-ज्ञान से वह अमृतत्त्व प्राप्त कर लेता है। अन्य कोई मार्ग नही है। निष्काम कर्म से ही अन्तःकरण शुद्ध होता है तथा शुद्ध अन्त.करण में ही ज्ञान का प्रकाश हाता है। इसलिए ऋषि दोनों की साथ-साथ उपासना की अनिवार्यता बतलाते हैं। इनके बिना सद्गति असंभव है। इस सूत्र में रहस्य की बात यही है कि जो भी उपासना की जाती है उसमे शरीर से तादात्म्य बना रहता है तथा मन की उपास्थिति रहती है। बिना इन दोनो के कोई भी साधना, तपस्या, योग की क्रियाएँ संभव ही नही है। शरीर और मन के रहते आत्मज्ञान सम्भव नही है। इन दोनो से तादात्म्य तोड़ने पर ही जब जीव यह समझने लगता है कि न मैं शरीर हूं, न मन बल्कि शुद्ध चैतन्य तत्त्व हू। तभी वह मोक्ष को प्राप्त करता है। यही उसका अमृतत्त्व है। अज्ञानी (जिसे ज्ञान प्राप्त नही हुआ है) के लिए कर्म ही एक मात्र मार्ग है। ज्ञान प्राप्ति के बाद कर्मो में श्रेष्ठता आती है। गीता मे कहा है "योगः कर्मसु कौशलम्" (गीता २/५०)। श्रेष्ठ एव पाप रहित कर्म ज्ञान प्राप्ति के बाद ही सम्भव है किन्तु अज्ञानी के कर्मों से ही अनुभव प्राप्त होता है। ससार के सुख दुखों का पूर्ण अनुभव ही उसे ज्ञान प्राप्ति की ओर ले जाता है। अत. अज्ञानी के लिए कर्म के सिवा अन्य कोई मार्ग नही है। ऐसा अज्ञानी जो मूढ़ है, जो कर्मों से होने वाले सुख दुखो की अनुभूति नही करता, जो दु.खों का कारण प्रारब्ध या भाग्य पर डाल देता है अथवा यह समझता है कि ये दुःख दूसरों के द्वारा दिये जा रहे हैं, वह इनके अनुभवो से वचित रहता है जिससे उसके ज्ञान के द्वार नही खुलते। वह इस अज्ञानान्धकार में जन्मों-जन्मों तक भटकता रहता है। जो पुरुषार्थ करके इन दुःखो के अन्त करने में चेष्टारत रहता है, जो विवेक बुद्धि से कार्यरत रहता है उसके कर्म ही उसे सद्मार्ग में ले जाकर ज्ञान प्राप्ति का हेतु बन जाते हैं। ज्ञान से कर्मों का उदय होता है तथा कर्मों का उद्देश्य

ज्ञान प्राप्ति ही होता है। कर्म किये बिना ज्ञान भी नहीं होता। ज्ञान कर्म का ही फल है। अतः अज्ञानी को ज्ञान प्राप्ति हेतु कर्म का ही आश्रय लेना चाहिए। उसके लिए अन्य कोई मार्ग नहीं है। जिसे दुःखों का अनुभव ही नहीं हुआ वह सुख एवं आनन्द की चेष्टा ही क्यों करेगा तथा जिसने चेष्टा ही नहीं की वह उसे प्राप्त ही कैसे कर सकता है। इसलिए कर्म और ज्ञान दोनों की साथ-२ उपासना से ही सुफल प्राप्त होता है। एक की ही उपासना करने वाला अन्धकार में ही भटकता रहता है।

ज्ञान और कर्म में भ्रमित लोगों के लिए ऐसा सूत्र अन्यत्र खोजना कठिन है। न संसार से मुक्ति होती है, न संन्यास से, न कर्म से होती है, न दैवोपासना से, बल्कि दोनों की साथ-साथ उपासना ही मार्ग है।

१२. "जो असंभूति की उपासना करते हैं वे घोर अन्धकार में प्रवेश करते हैं और जो संभूति में रत हैं, वे मानों उससे भी अधिक अन्धकार में प्रवेश करते हैं।"

व्याख्या—यह दृश्यमान जगत् उस परमात्मा का सम्भूत (व्यक्त) रूप है जो प्रकट हो गया है, दिखाई देता है, जिसकी अभिव्यक्ति हो गई है। ये अवतार, ईश्वर पुत्र, देवता तथा जड़-चेतन सृष्टि उसी अव्यक्त ब्रह्म का व्यक्त रूप है। यह ब्रह्म प्रकृति के माध्यम से ही व्यक्त होता है अतः समस्त जगत् प्रकृति रूप ही है तथा जो असंभूत है, अभी प्रकट नहीं हुआ है, बीज रूप में, शक्ति के रूप में ही विद्यमान है वह इसका अव्यक्त स्वरूप है। यह व्यक्त जगत् इस अव्यक्त से ही आया है। यह अव्यक्त इसकी ज्ञान शक्ति है तथा इसका व्यक्त स्वरूप क्रिया शक्ति है। पूर्व सूत्रों में जो ज्ञान एवं कर्म की उपासना के फल बतलाये गये हैं उसी का दूसरा रूप इसमें बताया गया है कि जो इस असंभूत ब्रह्म, अव्यक्त ब्रह्म अथवा ज्ञान की ही उपासना करते हैं वे घोर अन्धकार में प्रवेश करते हैं। परब्रह्म निराकार तथा निर्गुण है। उसकी उपासना सगुण एवं साकार के बिना सम्भव नहीं है। साकार भी उसी निराकार का स्वरूप ही है। निराकार पकड़ से छूट जाता है, साकार पकड़ में आ जाता है। इसलिए बिना साकार की उपासना के, बिना उस व्यक्त की उपासना के अव्यक्त में प्रवेश नहीं किया जा सकता। साधना का आरम्भ शरीर और कर्म से ही होता है तथा इससे मन तक पहुंचा जाता है जो इसका सूक्ष्म तल है तथा इसके बाद जो इसका सूक्ष्मतम तल आत्मा है उस तक पहुंचा जा सकता है। बिना शरीर, कर्म एवं मन के स्वरूप को समझे सीधा उस अव्यक्त में प्रवेश नहीं

हो सकता। इसलिए ऐसा साधक महा-अन्धकार में प्रवेश कर जाता है। उसे मार्ग नहीं मिलने से अज्ञान में ही भटकता रहता है।

दूसरी विधि है जो इस संभूत ब्रह्म, व्यक्त ब्रह्म अथवा कार्य ब्रह्म की ही उपासना करते हैं वे इससे भी अधिक अन्धकार मे प्रवेश करते है। उन्हें इस अकेली उपासना से आत्मज्ञान नही हो सकता। इसका अर्थ यह नही है कि इसकी उपासना पाप है अथवा नरक में ले जाने वाली है बल्कि यह है कि यह मुक्ति का मार्ग नहीं है। इसका फल दूसरा होता है। कार्य ब्रह्म की उपासना सकाम भाव से ही होती है। इसमें आसक्ति, वासना होने से यह उसका फल देती है। अवतार, तीर्थंकर, देवता आदि की उपासना से वे उसी लोक में जाते हैं। भगवान कृष्ण ने गीता में कहा है—

> "जो देवता के पूजन की चेष्टा करता है वह उन इच्छित भोगों को निःसन्देह प्राप्त होता है। देवताओं को पूजने वाले देवताओं को ही प्राप्त होते है और मेरे भक्त मेरे को ही प्राप्त होते हैं।"
>
> (गीता ७/२२-२३)

इसी प्रकार जो शरीर और इन्द्रिय भोगो मे ही रत हैं वे उसी के अनुसार भोगों को ही प्राप्त होते हैं तथा मृत्यु के बाद भी उसी वासना के अनुसार भोग योनियों में ही जन्म लेते है। जो सकाम कर्म करते है वे उसी प्रकार के फल का भोग करते हैं जैसा कि सृष्टि का नियम है किन्तु वे कभी भी आत्मज्ञान को प्राप्त होकर परमानन्द को उपलब्ध नही हो सकते। यही उनका अज्ञानान्धकार है जिसमे वे अनेक जन्मों तक भटकते रहते है। इन्द्रियों की उपासना तो पशु भी कर लेते है। खाना-पीना, निद्रा, शौच, चलना, सूंघना, यौन क्रियाएँ आदि तो मनुष्य और पशु मे समान ही है किन्तु कर्म प्रवृत्ति की उपासना मनुष्य का ही धर्म है। जो इन कर्मो को वासना पूर्ति एवं अहंकार पूर्ति हेतु करता है वह आत्मज्ञान के फल का अधिकारी नही है। वह अज्ञान में ही भटकता रहता है। वह चाहे कितना ही पुण्य कर्म क्यों न करे उसमें अहं भावना रहने के कारण वह मुक्ति का साधन कभी नही वन सकता। वह दान-पुण्य, सेवा, तीर्थाटन, भजन, पूजा, पाठ आदि समस्त कर्म इसलिए करता है कि उसका फल उसे परलोक में मिले इसलिए वह आत्मज्ञान से वंचित ही रहता है। अज्ञानी यदि त्याग भी करता है तो अपनी अहंकार पूर्ति हेतु ही करता है जिससे वह अन्धकार में ही भटकता रहता है। घर-बार छोड़कर, नग्न होकर भी बेंड बाजे बज-

वाता है, उपवास करने पर शोभा यात्रा निकलवाता है, त्यागी होकर भी प्रशंसा से आनन्दित एवं निन्दा से क्रोधित हो जाता है ये सब अहंकार के ही लक्षण हैं। वास्तविक त्यागी वह है जिसने अहंकार का त्याग कर दिया। योग वाशिष्ठ में कहा है "अहंकार त्याग से ही सर्वत्याग हो जाता है। वस्तुओं का त्याग कोई त्याग नहीं है।" इस उपनिषद् के प्रथम सूत्र में यही बात स्पष्ट की गई है कि "यह सभी कुछ परमात्मा का है।" जब परमात्मा का है, तुम्हारा है ही नहीं तो तुम त्याग किसका कर रहे हो? इस अनधिकृत सम्पत्ति का तुम त्याग करके अपना यश कमाना चाहते हो तथा इसी के आधार पर तुम स्वर्ग सुख भोग की कामना करते हो, यह कितना बड़ा अज्ञान है। इस अज्ञान के नष्ट हुए बिना मुक्ति नहीं होती किन्तु तुम इसको और बढ़ाते जा रहे हो इससे महा-अन्धकार में ही प्रवेश कर रहे हो।

इन्द्रियों की वासना से मुक्त होकर भी यदि अहंकार की वासना से मुक्त न हो सके तो महा-अन्धकार में ही प्रवेश करोगे। ज्ञान प्राप्ति इससे नहीं होगी, परमानन्द स्वरूप ब्रह्म की उपलब्धि इससे नहीं होगी।

यदि इन्द्रिय भोग आवश्यकतानुसार ही हो, "तेन त्यक्तेन भुंजीया" त्याग भावना से ही भोग हो और अहंकार शून्य हो जाय तो ज्ञान प्राप्ति के लिए और कुछ करना नहीं पड़ता।

इस सूत्र में समस्त उपनिषद् का सार निचोड़ रख दिया है कि असंभूति (ज्ञान) की उपासना करने वाले महा-अन्धकार में भटकते हैं तथा संभूति (कार्य ब्रह्म) की उपासना करने वाले इससे भी अधिक अन्धकार में भटकते हैं। दोनों की उपासना ही सुफल देने वाली है।

१३. "कार्य ब्रह्म की उपासना से और ही फल बतलाया गया है तथा अव्यक्त की उपासना से और ही फल बतलाया है। ऐसा हमने बुद्धिमानों से सुना है, जिन्होंने हमारे लिए उसकी व्याख्या की है।"

व्याख्या—कार्य ब्रह्म की उपासना भी दो प्रकार से की जाती है—एक सकाम भाव से, भोगेच्छा एवं अहंकार की पूर्ति हेतु जिसका फल भोगों की प्राप्ति ही होता है तथा उनका फल भोगने के लिए बार-बार जन्म लेना पड़ता है। दूसरा प्रकार है निष्काम कर्म, भोगेच्छा का त्याग करके, अहंकार रहित हो, ईश्वरेच्छा के अनुसार कर्म करना, इन्द्रियों को भोगासक्त न होने देना, इस प्रकार की उपासना से मनुष्य कर्म बन्धन से

मुक्त होकर वह मृत्यु को पार कर जाता है तथा उस अव्यक्त ब्रह्म की उपासना से परब्रह्म की प्राप्ति होती है। अतः दोनों के अलग-२ फल होते हैं। शास्त्रों के अनुसार इनका यथार्थ तात्पर्य समझकर ही उपासना करने से अभीष्ट फल प्राप्त होता है अन्यथा वह अज्ञानान्धकार में भटकता ही रहता है। व्यक्त स्वरूप की पूजा हो सकती है। यह पूजा भी उस असंभूत (अव्यक्त) मे प्रवेश का साधन बन जाती है। देवताओं की उपासना से स्वर्गादि की प्राप्ति होती है, पूजा, अर्चना, वन्दना से शान्ति प्राप्त होती है। सुख की, शान्ति की, उच्च भोगों की कामना वाले व्यक्ति ही देवादि की उपासना करते हैं। मुक्ति की चाह वाले इनकी उपासना नही करते। देवता की उपासना करने से मुक्ति नही मिलती। वह उसी से बध जाता है। इस प्रकार सभी प्रकार के कर्मो के भिन्न-२ फल होते हैं, सबके परिणाम भिन्न-२ है। मुक्ति की चाह वालो के लिए ये त्याज्य हैं। ये मुक्ति के साधन नही हैं।

"जो असंभूति और कार्य ब्रह्म-इन दोनों को साथ-साथ जानता है, वह कार्य ब्रह्म की उपासना से मृत्यु को पार करके असंभूति के द्वारा अमरत्व प्राप्त कर लेता है।"

व्याख्या—इस सूत्र में ऋषि ने उपासना के सबसे बड़े रहस्य को प्रकट किया है। इसे समझ लेने पर उपासक अपना सही मार्ग खोज सकता है। वह अज्ञान के अन्धकार में नही भटकता। ज्ञान प्राप्ति का यह सबसे महत्वपूर्ण सूत्र है।

यह सम्पूर्ण सृष्टि उस अव्यक्त, असभूत ब्रह्म का ही व्यक्त, सभूत रूप है। हम इसी को देखते हैं, इसी में रहकर अपना जीवन निर्वाह करते हैं। जीवन के लिए वासना, आसक्ति आदि आवश्यक है जिससे हमारी वासनाएँ, आसक्ति, अहंकार, राग, द्वेष, ईर्ष्या, परिग्रह आदि सब बढ जाते हैं। यही कार्य-ब्रह्म हमारा जीवन एवं नियति बन जाता है। इससे हमारा सर्वाधिक परिचय हो जाने मे हम इसके स्वरूप को भूल ही जाते हैं। इस सृष्टि का दूसरा रुप है वह असंभूत, अव्यक्त ब्रह्म, जो इस सृष्टि का कारण है, इसका मूल बीज है। इसे हम नही जानते। न यह दिखाई ही देता है, न कभी अनुभूति में ही आता है। कुछ ज्ञानियो ने जाना जिन्होने उसकी व्याख्या की किन्तु हमारी बुद्धि की पकड़ में न आने से, हमारे अनुभव की वस्तु न होने से हम उसे महत्व नही देते। इसी कारण हम जन्मों-जन्मों

तक इस अज्ञान रूपी अन्धकार में भटकते रहते हैं एवं जीवन मृत्यु के चक्र में पड़कर निरन्तर दुःख भोगते रहते हैं।

इस अज्ञान का अन्त ज्ञान से ही संभव है। अन्य कोई उपाय नहीं है। किन्तु उसका ज्ञान न पुस्तकों से होता है, न धर्मग्रन्थ पढ़ने से, न पूजा-पाठ से होता है न गुरु के उपदेश मात्र से। इस उपनिषद् का ऋषि कहता है कि उसके ज्ञान का सर्वोत्तम माध्यम यह कार्य-ब्रह्म ही है, यह संभूत सृष्टि ही है जो प्रत्यक्ष है। इस प्रत्यक्ष से ही परोक्ष का ज्ञान संभव है, इस ज्ञात से ही अज्ञात में प्रवेश किया जा सकता है। अप्रकट का ज्ञान इस प्रकट से ही संभव है। यह संभूत-ब्रह्म (सृष्टि) भी उसी असंभूत का रूप है। इसलिए इसका जानना परम आवश्यक है। लेकिन इस संभूत को जानने मात्र से असंभूत का ज्ञान नहीं हो सकता तथा उस असंभूत के ज्ञान के बिना परमानन्द की प्राप्ति नहीं होती। इसलिए दोनों को जानने से ही उसके पूर्णत्व का ज्ञान होता है। केवल कार्य-ब्रह्म की उपासना से मृत्यु के पार हो सकता है। किन्तु उस परब्रह्म को प्राप्त करके अमरत्व को प्राप्त कर लेता है।

इस सूत्र का अर्थ यही है कि ज्ञान और विज्ञान, सृष्टि और ईश्वर, कर्म और ज्ञान, दोनों की ही उपासना से ज्ञानरूपी फल प्राप्त होता है। दोनों में से एक की उपासना अन्धकार में भटकाने वाली ही होती है। भारतीय दर्शन की यही विशेषता रही है कि संसार का त्याग, उसकी अपेक्षा तथा उसका निषेध कहीं भी नहीं किया गया है बल्कि संसार एवं जीवन को भी उपासना के द्वारा मोक्ष का साधन माना गया है, उसके त्याग को नहीं। यह संसार एवं जीवन के प्रति विधायक दृष्टि है।

१५. "आदित्य मण्डलस्थ ब्रह्म का मुख ज्योतिर्मय पात्र से ढका हुआ है। हे पूजन्! मुझ सत्य धर्मा को आत्मा की उपलब्धि कराने के लिए तू उसे उघाड़ दे।"

व्याख्या—पूर्व सूत्रों में परब्रह्म का स्वरूप तथा उसकी उपासना विधियों को बतलाया गया है। इन विधियों द्वारा जब साधक का अन्तःकरण शुद्ध हो जाता है तो ध्यान में गहराई आती है। ध्यान की इस गहराई में उसे दिव्य प्रकाश दिखाई देता है। यह प्रकाश इतना तेज होता है जैसे अनन्त सूर्य एक साथ प्रकाशित हो गये हों। इस प्रकाश के कारण उसके शरीर का ताप भी इतना बढ़ जाता है कि उसका शरीर जलने लगता है। ऐसी अनुभूति सभी साधकों को अन्तिम स्थिति की उपलब्धि से पूर्व होती

है। जो साधक इसी स्थिति से लौट आते हैं उन्होंने ही परमात्मा को प्रकाश रूप कहा है कि परमात्मा प्रकाश है। सकल्प एवं पुरुषार्थ के मार्ग से चलने वाले यही तक पहुंच सकते हैं। आगे का मार्ग समर्पण का है, प्रार्थना का है। यहाँ पहुच कर साधक अपने को असहाय अनुभव करने लगता है। उसका प्रयत्न वहाँ व्यर्थ हो जाता है। उस प्रकाश के भीतर ही उस पर-ब्रह्म (आत्मा) का स्वरूप है। वही निज का स्वरूप है जिसे जानने के लिए वह इस प्रकाश रूपी सूर्य की प्रार्थना करता है कि तू अपने इस ज्योतिर्मय पात्र को उघाड दे जिसके भीतर उस ब्रह्म का स्वरूप छिपा है। बिना उस तीव्र प्रकाश के शान्त हुए उस शान्त-ब्रह्म का स्वरूप नही दिखाई देता। वह स्वरूप ही अद्वैत का अनुभव है। उसी को जान लेने पर सब कुछ जाना हुआ हो जाता है तथा उसी को जानकर यह सम्पूर्ण सृष्टि ब्रह्ममय ज्ञात होती है। इससे पूर्व जीव और ब्रह्म, ब्रह्म और जगत् का द्वैत बना रहता है। जो साधक यही तक पहुंचते हैं उन्हे द्वैत की ही अनुभूति होती है क्योकि इस ब्रह्म को देखने वाला जीव मौजूद रहता है, जीव के साथ मन भी मौजूद रहता है। अत. इस शरीर और मन का जो सूक्ष्म रूप, बीज रूप में मौजूद है उसे नष्ट करने के लिए ऋषि प्रार्थना करता है जिससे वह निर्बीज समाप्ति को प्राप्त होकर ब्रह्म में लीन हो सके एव अद्वैत का अनुभव कर सके। इस स्थिति में प्रार्थना का ही महत्व है। अन्य सारी विधियाँ व्यर्थ हो जाती है। जो साधक अहंकारी होता है उसे यहाँ पहुँच कर समर्पित होना पड़ता है तथा उस समर्पण भाव से जो प्रार्थना निकलती है वही परम उपलब्धि का कारण बनती है। जो समर्पित नहीं हो सकते, प्रार्थना नही कर सकते वे इस परम ज्ञान से वंचित रह जाते हैं। पतंजलि ने इसी को 'धर्ममेघ समाधि' कहा है। यही पहुच कर ईश्वर की अनुकम्पा प्राप्त होती है जिसकी साधक को यहाँ सर्वाधिक आवश्यकता होती है। इस तीव्र प्रकाश के हटने पर ही सत्य के निरावरण दर्शन होते हैं। इस सूत्र मे ऋषि यही प्रार्थना करता है कि हे पूजन! अर्थात हे जगत का पोषण करने वाले, मैं सत्य धर्म का पालन करने वाला हूं, मैं अब आत्मा के सत्य स्वरूप को जानना चाहता हूं जो तेरे इस तीव्र प्रकाश के पीछे छिपा है। तू इस प्रकाश को हटा, जिससे मैं तेरे आत्म स्वरूप को स्पष्ट रूप से जान सकूं। यहाँ पहुंच कर ध्यान की समाप्ति हो जाती है एवं प्रार्थना ही एक मार्ग रह जाता है। जिस प्रकार नदी पार होने पर नाव की कोई उपयोगिता नही रह जाती, उसे छोडनी पड़ती है उसी प्रकार ध्यान रूपी नाव की गति यही तक है। यहां उसे छोड़ कर प्रार्थना रूपी अन्य वाहन पकड़ना पड़ता है,

तभी आगे की यात्रा होती है अन्यथा वहीं रुक जाना पड़ता है। अद्वैत की अनुभूति में ध्यान की गति नहीं है। मनुष्य की क्षमता यहाँ समाप्त हो जाती है। यहीं जीव के कर्मों का तथा मन का अवसान होता है जो इनकी सन्ध्या है। इस समय प्रार्थना द्वारा ही अन्तिम कदम उठता है। साधना का आरम्भ संकल्प से होता है तथा समर्पण में इसका अन्त होता है।

उपासना तथा साधना की अंतिम स्थिति का यह बड़ा महत्वपूर्ण सूत्र है। जो इसके रहस्य को जान लेता है वह अंतिम फल आत्मा के दर्शन को प्राप्त कर लेता है।

> "हे जगत्पोषक सूर्य ! हे एकाकी गमन करने वाले ! हे यम ! (संसार का नियमन करने वाले) हे सूर्य ! हे प्रजापति नन्दन ! तू अपनी किरणों को हटाले। तेरा जो अतिशय कल्याणमय रूप है, उसे मैं देखता हूँ। यह जो आदित्य मण्डलस्थ पुरुष है, वह मैं हूँ।

व्याख्या—आत्मा और परमात्मा (ब्रह्म) का स्वरूप एक जैसा है। समष्टि में जो स्वरूप परमात्मा का है वही व्यष्टि में आत्मा का है। ज्ञान आत्मा का ही होता है। वही ज्ञान परमात्मा का ज्ञान है। उसमें भिन्नता नहीं है। वह ब्रह्म ही आत्म-स्वरूप में शरीर के भीतर स्थित है। वह इतना तेजोमय है कि उस तेज के सामने उसका जो शान्त एवं कल्याणमय रूप है उसके दर्शन नहीं हो सकते। यह तेज या प्रकाश उसी का है जो उसकी शक्ति का रूप है। यही शक्ति सृष्टि की रचना का कारण है, यही उसका पोषण एवं नियमन करने वाली है। यह उसकी गत्यात्मक स्थिति है जिसके भीतर उसकी शान्तावस्था भी है। यही शान्तावस्था उस ब्रह्म का वास्तविक स्वरूप है, वही आत्मरूप निज का स्वरूप है। साधक इसी स्थिति का अनुभव करके जीवन्मुक्त होता है। वही ज्ञानी कहलाता है। इस अनुभूति के बाद ही उसे अद्वैत की अनुभूति होती है। यही परमावस्था एवं परमपद है जहां पहुंच कर पुनः लौटना नहीं होता।

इस स्थिति को प्राप्त करने के लिए ऋषि इसके किनारे पर खड़ा होकर समर्पण भाव से प्रार्थना करता है कि हे जगत् का पोषण करने वाले सूर्य (प्रकाश), हे एकाकी गमन करने (वाले वह अकेला ही सृष्टि में सर्वत्र व्याप्त है तथा वही सब कुछ है, दो की सत्ता है ही नहीं) हे यम ! (सृष्टि का नियमन करने वाला), हे सूर्य ! (तेजोमय, सृष्टि का पोषण करने वाला), हे प्रजापति नन्दन ! (प्रजापति पुत्र सूर्य), तू अपनी इन शक्ति रूप

किरणों को हटा ले। क्योंकि शक्ति की तीव्रता से शान्तावस्था का ज्ञान नही होता, गतिशील से स्थिरता का ज्ञान नही होता। गति शान्त होने पर ही स्थिति का अनुभव होता है। गति और स्थिति ये दोनों ही उस ब्रह्म की दो स्थितियां हैं। गति ही ससार है जिसका सूक्ष्मतम रूप वह तेजोमय प्रकाश है। यह प्रकाश वैज्ञानिकों की ऊर्जा जैसा है जिससे पदार्थों का निर्माण होता है। विज्ञान ने इसे बाहर खोजा, परमाणु का विखंडन करके खोजा, ज्ञानी ने इसे भीतर खोजा। दोनों में कोई अन्तर नही है। भीतर और बाहर मे भिन्नता नही है। जो भीतर देखा गया वही बाहर भी उसी प्रकार का दिखाई देता है। जो पिंड में है वही ब्रह्मांड में है। रचना की एक ही प्रक्रिया है। किन्तु यह प्रकाश, यह ऊर्जा अन्तिम नही है। इसका अन्तिम स्वरूप है इसकी शान्त एवं चैतन्य स्थिति है। वैज्ञानिक अभी इसे नही जान पाये है। संभव है आगे जान लें। किन्तु अध्यात्म वादियों ने इसे जाना तथा इसी को एक मात्र मौलिक तत्त्व माना जो समस्त जड़-चेतन सृष्टि का आधार है, वही बीज है, वही सृष्टा है, वही रचयिता है जो शरीर में आत्म रूप मे अवस्थित है। ऋषि उसी के स्वरूप को देखने के लिए प्रार्थना करता है। उस प्रकाश के भीतर ही उसका शान्त एवं कल्याणमयी स्वरूप है। योग और सांख्य जिसे 'पुरुष' कहता है वह वही चिन्मय ब्रह्म है। आत्मा भी वही चिन्मय रूप है इसलिए जीव का रूप, शरीर, मन आदि नही बल्कि वही आत्मा है। इसलिए ऋषि कहता है। 'वही मैं हूं' मैं अपने निज स्वरूप को जानना चाहता हूं। इसलिए तू अपने इस तेज को हटाले जिससे मुझे अपने सत्य स्वरूप का ज्ञान हो सके। यही परम उपलब्धि है, यही परम स्थिति है। इसी को 'नो दाई सैल्फ', 'सैल्फ, रियलाइजेसन,' 'आत्मानुभूति,' 'आत्मज्ञान' आदि कहते हैं। यहां पहुंचने पर ही व्यक्ति स्वयं, करुणामय बन जाता है। स्वयं ब्रह्म हो जाता है। यही उसे अद्वैत की अनुभूति होती है। समस्त भिन्नताएँ, द्वन्द्व आदि मिट जाते हैं। साधक के लिए बड़ा महत्वपूर्ण सूत्र है यह जो ज्ञानियो ही का अनुभव है।

> "अब मेरा प्राण सर्वात्मक वायु रूप सूत्रात्मा को प्राप्त हो,
> और यह शरीर भस्म शेष हो जाय। हे मेरे संकल्पात्मक
> मन! अब तू स्मरण कर, अपने किये हुए को स्मरण कर,
> अब तू स्मरण कर, अपने किये हुए को स्मरण कर।"

व्याख्या—इस सूत्र में ऋषि आत्मज्ञान की अन्तिम अवस्था में पहुचने

का वर्णन करता है। यह स्थिति कैवल्य ज्ञान की स्थिति है जब जीव का इस स्थूल एवं लिंग शरीर से सम्बन्ध छूट जाता है, प्राण-वायु समष्टि तत्त्व में विलीन हो जाता है तथा मन का भी सर्वथा विनाश हो जाता है जो इन सबका कारण है। इन सबकी भिन्नता का अनुभव हो जाने पर केवल आत्म तत्त्व ही शेष रह जाता है जो निज का स्वरूप है। वही चेतन तत्त्व ब्रह्म है, वही परमात्मा है जिसे पाकर (जानकर) और कुछ पाना शेष नहीं रहता। शरीर, मन, प्राण आदि प्रकृति तत्त्व हैं जो पुनः अपनी-अपनी प्रकृति में विलीन हो जाते हैं। इसी को मोक्ष अवस्था कहते हैं। वह चेतन आत्मा भी उस विराट् चेतन में विलीन हो जाती है।

इसी को लेकर ऋषि कहता है कि यह मेरा प्राण उस समष्टि-वायु तत्त्व में विलीन हो जाय, यह स्थूल शरीर जो पृथ्वी तत्त्व से बना है भस्म होकर पुनः पृथ्वी तत्त्व में मिल जाय, तथा यह मन जिसने संकल्प-विकल्प के कारण मुझे अज्ञान रूपी अन्धकार में भटकाया है उसे भी कहते हैं कि तू अपने किए हुए कर्मों का स्मरण कर। जीवन पर्यन्त ये सब पाप-पुण्य रूप कर्म तेरी ही वासना के कारण हुए हैं। अब मैं तुझे भी विदा दे रहा हूं क्योंकि मेरा प्रयोजन सिद्ध हो गया। अब तेरी कोई आवश्यकता ही नहीं है अतः अपने किये कर्मों का स्मरण करके विदा हो। मन ही बंधन का कारण था। अब जब मुक्त हो गया, बंधन ही गिर गये तो मन की उपस्थिति ही बाधा बन सकती है। मन से मुक्त होना ही मुक्ति है इसलिए मन को भी विदाई देते हैं जिससे वह पुनः बाधा न बन सके।

इस सूत्र का सार यही है कि स्वयं को मिटाये बिना उस परम चेतना का ज्ञान नहीं होता। जब तक मन है तभी तक तत्त्व भिन्नता का अनुभव होता है तथा उस परमतत्त्व (ब्रह्म) के साथ एकता स्थापित हो जाने पर फिर भिन्नता की प्रतीति कराने वाले सभी अनात्म पदार्थ जो प्रकृति के संयोग से निर्मित हुए हैं पृथक हो जाते हैं। यही उस परमात्मा में लय की स्थिति है। वही ज्ञान एवं मोक्ष कहलाता है।

सामान्य मृत्यु पर केवल स्थूल शरीर गिरता है। अन्य सभी तत्त्व-मन, बुद्धि, अहंकार, वासनाएं, कर्म संस्कार, स्मृति, आकांक्षा आदि जीवात्मा के साथ जाते हैं तथा वही मन वासना पूर्ति हेतु पुनः नये शरीर को धारण कर लेता है। इसलिए शरीर वस्त्र से अधिक महत्त्व का नहीं है। यह वह भवन है जो जीवात्मा का निवास है। भवन नष्ट होने पर वह नये भवन में प्रवेश कर जाता है। मुक्तावस्था तक यह परिवर्तन चलता रहता

है। मन पहले है, तथा शरीर छाया की भांति उसके साथ आता है, पहले वासना है जिसमे कर्मों का निर्माण होता है। वासना ही का जन्म एवं मरण होता रहता है तथा प्रत्येक जीवन की सभी स्मृतियाँ मन मे संग्रहीत रहती हैं। यह मन बहुत पुराना है। अनेक योनियों-कीट-पतंग, पशु-पक्षी, आदि से गुजर कर मनुष्य योनि मे आया है जिनकी सभी स्मृतियाँ इसमे विद्यमान है। इसी कारण मनुष्य पशुओ जैसा आचरण भी करने लगता है क्योंकि उनके संस्कार विद्यमान हैं। किन्तु यह मन भी निज का स्वरूप नहीं है। यह भी अज्ञान से ही उत्पन्न हुआ है, प्रकृति का ही हिस्सा है। इसलिए ज्ञान प्राप्ति पर ऋषि इसे भी विदाई दे देता है जिससे पुनर्जन्म की सभावना ही समाप्त हो जाये। सार रूप में ऋषि ने कैवल्य (मोक्ष) के सत्य स्वरूप को बता दिया।

१८. "हे अग्ने ! हमें कर्म फल भोग के लिए सन्मार्ग से ले चल।
हे देव ! तू समस्त ज्ञान और कर्मों को जानने वाला है।
हमारे पाखंड पूर्ण पापों को नष्ट कर। हम तेरे लिए अनेकों
नमस्कार करते हैं।"

व्याख्या—इस मंत्र में अग्नि से प्रार्थना की गई है। यह अग्नि वह सांसारिक भौतिक अग्नि नही है बल्कि वह ज्ञानाग्नि है जिसमे सभी कर्म संस्कार, मन, वासना, अहंकार आदि जो भी बीज रूप में विद्यमान है, जो समय पाकर पुन. नये शरीर का कारण बन सकते है, वे सभी भस्म हो जाते है। बीज के ही जल जाने पर फिर उसके वृक्ष बनने की संभावना ही समाप्त हो जाती है। भगवान कृष्ण ने गीता में कहा है—

"हे अर्जुन ! जैसे प्रज्वलित अग्नि ईंधन को भस्ममय कर देता है
वैसे ही ज्ञानरूपी अग्नि सम्पूर्ण कर्मों को भस्ममय कर देती है।"
(गीता ४/३७)

ऋषि इन बीज रूप संस्कारों के नष्ट करने के लिए ही उस ज्ञानाग्नि से प्रार्थना करता है। इस अग्नि में समस्त कर्म-फल भोग समाप्त हो जाते हैं तभी उसकी चेतन तत्त्व में लीन होने की स्थिति सुदृढ होती है। यही सन्मार्ग है जहाँ पहुँच कर जीव पुनः नही लौटता। यहाँ पहुँच पाने पर भी अन्तिम स्थिति भगवत् कृपा से ही प्राप्त होती है। वहाँ समर्पण एवं प्रार्थना अनिवार्य है। इस स्थिति में स्वयं के संकल्प से नहीं पहुँचा जा सकता। यहाँ पहुँच कर सभी उपासनाएँ, ध्यान, योग, समाधि, मंत्र, जाप, भक्ति, आदि जितने भी पुरुषार्थ कृत कर्म है वे समाप्त हो जाते हैं। पूर्ण समर्पण एवं

प्रार्थना ही एक मात्र उपाय है। जो यह नहीं कर पाते वे इस पूर्णता से वंचित ही रहते हैं। साथ ही वह उस अग्नि देव से प्रार्थना करते हैं। कि तू हमारे समस्त पाखंडपूर्ण पापों को नष्ट कर, जो मुझे स्मरण नहीं हैं किन्तु तुझे स्मरण हैं क्योंकि तू सब का जानने वाला है। तुझे अनेकों नमस्कार हैं।

यह अग्नि प्रतीक है अशुद्ध को जलाकर शुद्ध रूप प्राप्त करने की। इसलिए अग्नि की उपासना की जाती है कि वह हमारे भीतर की अशुद्धियों को जलाकर शुद्ध स्वरूप की प्राप्ति करा दे। अग्नि विकारों को जलाती है तथा अन्त में स्वयं भी जल जाती है। पीछे कुछ नहीं बचता क्योंकि उसमें विजातीय तत्व कुछ भी नहीं है। अशुद्धि ही राख रूप में छूटती है। इसी प्रकार उस चेतन में से शरीर, मन, वासना, अहंकार आदि जो छूटता है वह सब विजातीय तत्व है। आत्मा का स्वरूप नहीं हैं। वह ज्ञानाग्नि इसे जलाकर अलग कर देती है तभी वह चेतन तत्व शुद्ध रूप में प्रकट होता है। इसी कारण सभी धर्मों में अग्नि पूजा का विधान है तथा उसे प्रतीक रूप में निरन्तर प्रज्वलित रखते हैं। हवन, मंदिर, धूमीं, देव पूजा सभी में अग्नि की ही प्रधानता है। इसी श्रेष्ठ प्रतीक के कारण उसे देवता मानकर पूजा की जाती है।

आदमी असद् की ओर अपने आप चला जाता है। उसे कोई प्रयत्न, साधना, उपासना प्रार्थना, पूजा नहीं करनी पड़ती। किन्तु सद् की ओर जाने के लिए ही प्रयत्न करना पड़ता है। खड़ी चढ़ाई है, फिसलने का भय है इसलिए परमात्मा की सहायता की भी आवश्यकता पड़ती है। कई जन्म भी इस यात्रा के लिए कम पड़ते हैं। इसीलिए कुछ ही लोग पहुँच पाते हैं तथा अन्य के लिए मार्ग दिखा जाते हैं जिस पर चल कर इच्छुक व्यक्ति भी वहाँ पहुँच सके। आदमी जब असहाय होता है तभी प्रार्थना का उदय होता है। ऋषि ऐसी ही स्थिति में सन्मार्ग की ओर जो चलने की प्रार्थना करता है। प्रार्थना समर्पण की सूचक है। तथा अन्तिम उपलब्धि समर्पण से ही होती है। प्रार्थना में माँग नहीं होती, यह अहंकार के विसर्जन

की विधि है। अहंकार मिटने पर स्वयं ही परमात्मा हो जाता है। अहंकारी प्रार्थना नही कर सकता। वह किसी के आगे झुकता ही नही। यह ईश्वर की सत्ता में ही विश्वास नहीं करता। जो निज की सत्ता को ही सर्वोपरि मानता है। उसकी गति यहाँ तक नही हो सकती जैसी ऋषि ने बतलाई है। यह अध्यात्म की सर्वोपरि, सर्वोत्तम स्थिति है जिसका वर्णन ऋषि ने इन थोड़े से सूत्रों मे कर दिया है। यही इस उपनिषद् की विशेषता है।

यह उपनिषद् संक्षिप्त होते हुए भी सर्वाधिक महत्व का है।

॥ यजुर्वेदीय ईशावास्योपनिषद् समाप्त ॥

शान्ति पाठ

ओ३म् पूर्णमदपूर्णमिदं पूर्णात्पूर्णमुदच्यते।
पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते॥
ओ३म् शान्तिः ! शान्तिः !! शान्तिः !!!

"सत्यमेव जयति नानृतं,
सत्येन पन्था विततो देवयानः ।
[३/१/६]

२. मुण्डकोपनिषद्

"भिद्यते हृदय ग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्व संशयाः ।
क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन्दृष्टे परावरे ।।
[२/२/८]

प्रस्तावना

यह उपनिषद् अथर्ववेद की शौनकी शाखा में है। इस उपनिषद् को तीन मुण्डक तथा प्रत्येक मुण्डक दो-दो खडों मे विभाजित किया गया है। इसका आरम्भ शान्ति पाठ से होता है जिसमें देवताओ से स्वय के कल्याण के लिए प्रार्थना की गई है जिससे वे इस जगत् के लिए अधिक कल्याण-कारी सिद्ध हो सकें।

इसके बाद छः खंडो में इस परम गुह्य ब्रह्म विद्या का उपदेश किया गया है। दस विद्या का सर्वप्रथम उपदेश ज्ञान के आदि गुरु ब्रह्मा ने अपने 'ज्येष्ठ पुत्र अथर्वा को किया, अथर्वा ने इसे अंगी ऋषि को, अंगी ऋषि ने सत्यवट को दिया। इस प्रकार परम्परा से इस ज्ञान का उपदेश अंगिरा ऋषि को प्राप्त हुआ। महर्षि अगिरा ने यही ज्ञान शौनक मुनि को दिया जिसका वर्णन इस उपनिषद् मे किया गया है।

इस ब्रह्म विद्या में वतलाया गया है कि यह विद्या दो प्रकार की है—परा तथा अपरा। भोगों के साधन के लिए जो विद्या है वह 'अपरा विद्या' है तथा जो विद्या परब्रह्म का ज्ञान कराती है वह 'परा-विद्या' है। अपरा विद्या में सकाम कर्म एवं यज्ञों के अनुष्ठान का फल वतलाकर ब्रह्म-ज्ञान से मोक्ष प्राप्ति का सर्वोत्तम फल बतलाया गया है। इस ज्ञान के अन्तर्गत ब्रह्म का स्वरूप, जगत् की उत्पत्ति, उस परब्रह्म को जानने की विधि तथा उसके फल का वर्णन करते हुए जीवात्मा तथा परमात्मा की अभिन्नता का प्रतिपादन किया गया है जो अद्वैत का सर्वमान्य सिद्धांत है। अंत में इस ज्ञान के लिए गुरु की अनिवार्यता का प्रतिपादन करते हुए अनधिकारी को इस ज्ञान का निषेध किया गया है।

इस प्रकार इन ६४ मंत्रो में ही ऋषि ने अध्यात्म के सारभूत रहस्य को प्रकट कर दिया है जो वेदान्त का सार (निचोड) है। यही इसकी महत्ता है।

—व्याख्याकार—

मुण्डकोपनिषद्

शान्ति पाठ

"हे देवगण ! हम भगवान का भजन (आराधना) करते हुए कानों से कल्याणमय वचन सुनें, नेत्रों से कल्याण ही देखें, सुदृढ़ अंगों एवं शरीरों से भगवान की स्तुति करते हुए हम लोग जो आयु आराध्यदेव परमात्मा के काम आ सके उसका उपभोग करें; सब ओर फैले हुए सुयश वाले इन्द्र, हमारे लिए कल्याण का पोषण करें, सम्पूर्ण विश्व का ज्ञान रखने वाले पूषा हमारे लिए कल्याण का पोषण करे, अरिष्टों को मिटाने के लिए चक्र सदृश शक्तिशाली गरुड़ देव हमारे लिए कल्याण का पोषण करे तथा बुद्धि के स्वामी वृहस्पति भी हमारे लिए कल्याण करें। ओ३म शान्ति ! शान्ति !! शान्ति !!!

व्याख्या—उपनिषद् का आरम्भ शान्ति पाठ से होता है जिसमें देवगणों, इन्द्र, पूषा, गरुड़देव तथा वृहस्पति जो शक्तियों के रूप हैं, आराधना की गई है कि वे हमारे शरीर एवं इंद्रियों को कल्याण मार्ग में ले जायें जिससे हम भगवान की आराधना करते हुए अपनी आयु का उपयोग परमात्मा के काम में कर सकें। समस्त इंद्रियों के स्वामी देवताओं से ही इन्द्रियों को शक्ति प्राप्त होती है तथा उन्हीं की अनुकंपा से उनका सुसंचालन होता है अन्यथा वे विकृत होकर दुष्कर्मों की ओर प्रवृत्त हो सकती हैं। इसलिए शरीर, मन, इंद्रियों को वश में करने एवं उन्हें सन्मार्ग में लगाने के लिए प्रार्थना पूर्वक हर कार्य का आरम्भ करना उचित है। इन्द्र, पूषा, गरुड़ और वृहस्पति ये सभी देवता भगवान की दिव्य विभूतियाँ हैं जिनकी कृपा से ही मनुष्य शक्ति सम्पन्न होकर महान् कार्य कर सकता है। अंत में आध्यात्मिक, आधिदैविक और आधिभौतिक तीनों प्रकार की शक्ति हेतु तीन बार शांति का उच्चारण किया गया है।

प्रथम मुण्डक

(अ) प्रथम खंड

१. "ओ३म् सम्पूर्ण जगत् के रचयिता और सब लोकों की रक्षा करने वाले ब्रह्मा, सब देवताओ मे सर्वप्रथम प्रकट हुए। उन्होने अपने बड़े पुत्र अथर्वा को समस्त विद्याओं की आधारभूता ब्रह्मविद्या का भली-भांति उपदेश किया।"

व्याख्या—सृष्टि की उत्पत्ति से पूर्व केवल परब्रह्म परमात्म रूपी एक ही तत्व विद्यमान था। उसके एक से अनेक होने के सकल्प के कारण सर्वप्रथम ब्रह्मा उत्पन्न हुए। इन्हे 'स्वयंभू' भी कहा जाता है। इन्ही ब्रह्मा से प्रजापतियों एवं देवताओं की उत्पत्ति हुई। इन्होने ही अन्य लोकों की रचना की तथा इस सृष्टि के नियम बनाये। इस प्रकार सृष्टि के रचयिता ब्रह्मा को ही माना जाता है।

सृष्टि के रचयिता होने के साथ-साथ वे ज्ञान के भी आदि गुरु हैं। ब्रह्म की परा और अपरा दोनों विद्याओं का उन्हे ज्ञान था। इसी को 'ब्रह्मविद्या' कहते हैं। यह ब्रह्मविद्या ही समस्त विद्याओ की आधारभूत विद्या है जिसके ज्ञाता ब्रह्मा ही थे। इन्होंने सर्वप्रथम यह ज्ञान अपने ज्येष्ठ पुत्र अथर्वा को दिया। अथर्वा ने इस ज्ञान को आगे बढाया। इस प्रकार यह ज्ञान गुरु-शिष्य परम्परानुसार चला आ रहा है। इसी कारण वेद, उपनिषद् आदि समस्त आध्यात्मिक ग्रन्थो मे जो ब्रह्मज्ञान है वह ब्रह्मा द्वारा ही आया माना जाता है। भिन्न-२ ऋषियो ने इसका सग्रह मात्र किया है। इसलिए इस समस्त ज्ञान को अनादि माना जाता है जो सृष्टि की रचना के साथ ही ब्रह्मा से प्राप्त हुआ है।

२. "ब्रह्मा ने जिस विद्या का अथर्वा को उपदेश दिया था, उसी ब्रह्मविद्या को अथर्वा ने पहले अंगी ऋषी से कहा था। उन अंगी ऋषी ने भरद्वाजगोत्री सत्यवट नामक ऋषि को

बतलाई। भारद्वाज ने पहले वालों से प्राप्त हुई इस परम्परागत विद्या को अंगिरा नामक ऋषि से कहा।"

व्याख्या—इस प्रकार ब्रह्मा से प्राप्त यह ब्रह्मविद्या परम्परानुसार अथर्वा, सत्यवट तथा अंगिरा ऋषि को प्राप्त हुई। (ऋषि का नाम भरद्वाज है तथा इस गोत्र में उत्पन्न को भारद्वाज कहते हैं—भारद्वाज का अर्थ—भरद्वाज के गोत्र में उत्पन्न)

३. "विख्यात है कि शौनक नाम से प्रसिद्ध मुनि जो अति वृहत् ऋषि कुल के अधिष्ठाता थे वे विधिवत् महर्षि अंगिरा के पास आये और विनयपूर्वक पूछा—भगवन्! निश्चय पूर्वक किसके जान लिये जाने पर यह सब कुछ जाना हुआ हो जाता है। यह मुझे बतलाइये।"

व्याख्या—पुराणों के अनुसार शौनक नाम के एक प्रसिद्ध महर्षि थे जो एक भारी विश्वविद्यालय के अधिष्ठाता थे। इनके ऋषि कुल में अट्ठासी हजार शिष्य थे। वे ज्ञान प्राप्ति की जिज्ञासा से एक बार महर्षि अंगिरा के पास गये तथा ब्रह्मविद्या के मूल तत्त्व परब्रह्म को जानने के बारे में प्रश्न किया जिसके जान लेने पर सब कुछ जाना हुआ हो जाता है अर्थात् आत्मज्ञान की प्राप्ति पर कुछ भी जानने को शेष नहीं रहता। उस आत्म-ज्ञान के बारे में जिज्ञासा की।

४. "विख्यात महर्षि अंगिरा उन शौनक मुनि से बोले—ब्रह्म को जानने वाले यह निश्चय पूर्वक कहते आये हैं कि दो ही विद्याएं जानने योग्य हैं—एक 'परा' और दूसरी 'अपरा' भी।"

व्याख्या—इस प्रकार अंगिरा ने शौनक मुनि से कहा कि इस सृष्टि में दो ही विद्याएं जानने योग्य हैं; जिनके जान लेने पर सब कुछ जाना हुआ हो जाता है। इनके दो विभाग किये हैं जिन्हें 'परा' और 'अपरा' विद्या कहते हैं।

५. "इनमें ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद तथा अथर्ववेद (चारों वेद) शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, छन्द, ज्योतिष ये तो 'अपरा' विद्या है तथा जिससे वह अविनाशी परब्रह्म तत्त्व से जाना जाता है, वह 'परा' विद्या है।"

व्याख्या—शौनक मुनि के प्रश्न के उत्तर में महर्षि अंगिरा ने इस 'अपरा' तथा 'परा' विद्या को स्पष्ट करते हुए बताया है कि चारों वेद तथा छः वेदांग ये 'अपरा' विद्या हैं। इनमें सांसारिक ज्ञान, कर्मकाण्ड, यज्ञ आदि की विधियों का वर्णन है। इनसे ब्रह्म लोक तथा परलोक के भोगों के साधनों का ज्ञान होता है। दूसरी वह 'परा विद्या' है जिसके द्वारा पर-ब्रह्म परमात्मा का यथार्थ ज्ञान होता है जिससे संसार के अज्ञान रूपी बन्धन से छूटकर जीव मोक्ष को प्राप्त होता है। इसका भी वर्णन वेदों में है। इस भाग को छोड़कर शेष सभी 'अपरा विद्या' ही है।

६. "यह जो जानने में न आने वाला, पकड़ने में न आने वाला, गोत्र आदि से रहित, रंग और आकृति से रहित, नेत्र, कान आदि से रहित, हाथ पैर आदि से रहित तथा वह जो नित्य, सर्व-व्यापी, सब में फैला हुआ, अत्यन्त सूक्ष्म, अविनाशी परब्रह्म है, उस समस्त प्राणियों के परम कारण को ज्ञानीजन सर्वत्र परिपूर्ण देखते हैं।"

व्याख्या—इस सूत्र में सर्वप्रथम शौनक मुनि को इस परा विद्या का ज्ञान देने के लिए, जिसके जानने से सब कुछ जाना हुआ हो जाता है, महर्षि अंगिरा उन्हें परा तथा अपरा दो प्रकार की विद्याएँ बताकर उस परा विद्या के ज्ञान हेतु उस परब्रह्म का वर्णन करते है जो समस्त जड़-चेतन सृष्टि का कारण है। उसकी वें विशेषताए भी बताते है कि वह सूक्ष्मतम होते हुए भी सर्वत्र परिपूर्ण है। वही समस्त सत्ता है। उससे भिन्न कुछ भी नही है। वही अविनाशी एवं नित्य है, अन्य सभी नाशवान् एवं अनित्य है। यह उसका निराकार स्वरूप है जिससे यह समस्त साकार सृष्टि उत्पन्न होती है।

७. "जिस प्रकार मकड़ी जाले को बनाती है और उसे निगल जाती है तथा जिस प्रकार पृथ्वी में नाना प्रकार की औषधियां उत्पन्न होती है और जिस प्रकार जीवित मनुष्य से केश और रोएं उत्पन्न होते है, उसी प्रकार अविनाशी परब्रह्म से इस सृष्टि में सब कुछ उत्पन्न होता है।"

व्याख्या—इस मन्त्र में यह बतलाया गया है कि उस परब्रह्म से जगत् की रचना किस प्रकार होती है? इस रचना को तीन दृष्टांतो द्वारा समझाया गया है। जिस प्रकार मकड़ी स्वयं के भीतर के पदार्थ से ही जाले को उत्पन्न करती है एवं उसे पुनः निगल जाती है उसी प्रकार यह सृष्टि

किसी बाहरी तत्त्व (प्रकृति) आदि से निर्मित न होकर स्वयं ब्रह्म के भीतर से ही उत्पन्न हुई है। जिस प्रकार पृथ्वी से औषधियाँ एवं शरीर से केश और रोएं उत्पन्न होते हैं जिनका कारण इनके भीतर विद्यमान है, उसी प्रकार सृष्टि के समस्त पदार्थों का कारण उस ब्रह्म में विद्यमान है। इसका मुख्य भाव यही है कि सृष्टि का उपादान एवं निमित्त कारण स्वयं वह पर-ब्रह्म ही है। उससे भिन्न ऐसा कोई तत्त्व नहीं है जो सृष्टि का निर्माण करे तथा उस ब्रह्म से उसका कोई सम्बन्ध ही न हो। इस सूत्र में सृष्टि को ईश्वर की ही कृति, उसी की रचना माना गया है जिससे सृष्टि और ब्रह्म की अभिन्नता सिद्ध होती है। इसमें यह भी ध्यान देने योग्य है कि वह ईश्वर कर्ता नहीं है। कर्म का लेप उसमें नहीं होता। अतः सृष्टि की रचना उसका कर्म नहीं है वल्कि उसके स्वभाव से ही अपने आप हो जाता है। जिस प्रकार उपयुक्त वातावरण मिलने से पृथ्वी में पड़ा हुआ बीज वृक्ष का रूप ले लेता है, जिस प्रकार शरीर के बाल आदि स्वभाव से ही समय पर उग आते हैं, जिस प्रकार शरीर का क्रमिक विकास किसी स्वभाव से ही होता है, इनके पीछे कोई कर्ता नहीं है उसी प्रकार परब्रह्म में स्वभाव से ही सृष्टि की रचना एवं प्रलय होते रहते हैं।

८. "परब्रह्म संकल्प रूप तप से वृद्धि को प्राप्त होता है, उससे अन्न उत्पन्न होता है। अन्न से क्रमशः प्राण, मन, सत्य (पांच महाभूत), समस्त लोक और कर्म तथा कर्मों से ही उसके सुख-दुःख रूपी फल उत्पन्न होते हैं।"

व्याख्या—यहाँ सृष्टि की रचना का क्रम बतलाया गया है कि उस परब्रह्म में सर्वप्रथम 'एकोऽहम् बहुस्याम्' (मैं एक हूं अनेक हो जाऊँ) का संकल्प होता है। इस संकल्प के कारण उस शांत ब्रह्म में स्पन्दन (हल-चल) होता है। यह संकल्प ही उसका तप है जिससे स्पन्दन होता है। उस स्पन्दन के कारण वह सूक्ष्म ब्रह्म तत्त्व घनीभूत होकर स्थूलता ग्रहण करता है जिसका प्रथम स्वरूप ब्रह्मा है। वह ब्रह्म अव्यक्त है, उसकी अभिव्यक्ति नहीं हुई है, वह असंभूत है। उसी का प्रथम व्यक्त रूप ब्रह्मा है। इसी ब्रह्मा से आगे सृष्टि निर्माण की प्रक्रिया आरम्भ होती है। जिसमें अन्न, प्राण मन, पांच महाभूत, समस्त लोक, कर्म तथा सुख-दुःख रूपी कर्म फल उत्पन्न होते हैं।

इसमें यह बताया गया है कि वह ब्रह्म संकल्प से ही वृद्धि को प्राप्त होता है। वह किसी वाह्य पदार्थ, प्रकृति आदि को लेकर इस सृष्टि की

रचना नहीं करता। वह कुम्हार के वर्तन वनाने की भाँति सृष्टि की रचना नहीं करता वल्कि वह स्वयं ही संकल्प से विस्तार को प्राप्त होता है। जिस प्रकार एक वीज से पूरा वृक्ष वन जाता है तथा उस वृक्ष से पुनः सैकड़ों वीज उत्पन्न होकर निरन्तर विस्तार को ही प्राप्त होते रहते हैं उसी प्रकार वह ब्रह्म स्वयं ही विस्तार को प्राप्त होता है। यह सम्पूर्ण सृष्टि उस ईश्वर की वर्द्धन शक्ति का ही परिणाम है।

९. "जो सर्वज्ञ, सबको जानने वाला है, जिसका ज्ञानमय तप है, उसी परमेश्वर से यह विराट् रूप जगत् तथा नाम, रूप और अन्न आदि उत्पन्न होते हैं।"

व्याख्या—वह परब्रह्म सर्वज्ञ है, सबको जानने वाला है तथा जिसका ज्ञान रूप तप है, उसने कर्म से नहीं वल्कि संकल्प से ही इस समस्त विराट् नाम-रूपात्मक जगत् की रचना की है।

शौनक मुनि के प्रश्न के उत्तर में सर्वप्रथम महर्षि अंगिरा ने उस परब्रह्म के स्वरूप का वर्णन करते हुए सृष्टि की रचना को वतलाकर यह सिद्ध किया कि वह परब्रह्म ही समस्त सृष्टि का कारण है जिसके जानने से यह समस्त जगत् जाना हुआ हो जाता है। ऐसी उसकी महिमा है।

॥ प्रथम खण्ड समाप्त ॥ १ ॥

—:o:—

(ब) द्वितीय खण्ड

१. "वह, यह सत्य है कि वुद्धिमान ऋषियों ने जिन कर्मों को वेद मंत्रो में देखा था, वे तीनो वेदों मे वहुत प्रकार से व्याप्त है। हे सत्य को चाहने वाले मनुष्यो! तुम लोग उनका नियम पूर्वक अनुष्ठान करो। इस मनुष्य शरीर में तुम्हारे लिए यही शुभ-कर्म की फल प्राप्ति का मार्ग है।"

व्याख्या—प्रथम खण्ड में महर्षि अंगिरा ने शौनक मुनि से पाँचवें मन्त्र में 'परा' तथा 'अपरा विद्या' को स्पष्ट किया था। ये दोनों ही विद्याएं जानने योग्य हैं। इस खण्ड में अपरा विद्या के स्वरूप तथा उसके फल का वर्णन किया गया है कि यह अपरा विद्या कर्म प्रधान है। मनुष्य को कर्म

करना ही चाहिए तथा उस कर्म मार्ग में प्रवृत्त होकर ही वह परा विद्या अर्थात् ज्ञान की ओर बढ़ सकता है। कर्म त्याग करने से ज्ञान नहीं होता किन्तु कर्म किस प्रकार करना चाहिए यह वेदों में निर्दिष्ट है जिसे बुद्धिमान् ऋषियों ने देखा है। उसी के अनुसार कर्म करते हुए सद्मार्ग की ओर बढ़कर जब अन्तःकरण की शुद्धि हो जाती है तभी वह आत्म ज्ञान का अधिकारी होता है। परा विद्या अर्थात् तत्त्व-ज्ञान का उपदेश तभी उसके लिए सार्थक एवं उपयोगी सिद्ध होता है। शुभ कर्मों का शुभ फल ही होता है। यही मनुष्य को निरन्तर उन्नति की ओर ले जाता हुआ अंत में उसे परा विद्या का अधिकारी बनाता है। मनुष्य शरीर में रहकर नियमपूर्वक अनुष्ठान किये गये शुभ कर्मों से ही उसकी उन्नति होती है। यही वेदों का उपदेश है। आलस्य या प्रमाद में कर्म त्याग कर देना अथवा भोगों एवं शरीर पोषण के लिए ही कर्म करना पशुत्व का मार्ग है। यह मनुष्य के लिए उपयुक्त नहीं है। यही शुभ कर्म का अर्थ है। जिससे स्वयं की आत्मा की उन्नति हो वही शुभ कर्म है।

२. "जिस समय हविष्य को देवताओं के पास पहुँचाने वाली अग्नि के प्रदीप्त हो जाने पर उसमें ज्वालाएँ लपलपाने लगती हैं, उस समय आज्य भाग की दोनों आहुतियों के स्थान को छोड़कर बीच में अन्य आहुतियों को डालो।

व्याख्या—वेदों के अनुसार आत्म-ज्ञान की प्राप्ति हेतु यह यज्ञ ही प्रधान कर्म है जिसे नियमित शास्त्रोक्त विधि से किये जाने पर ही आत्मा में चैतन्य का प्रकाश होता है। अतः यज्ञ विधि को मुख्य माध्यम मानकर उसको विधि पूर्वक नियमित रूप से करना चाहिए। इसका पूरा विधान है तथा यजुर्वेद में इसकी सम्पूर्ण विधि दी गई है। यहाँ यह बतलाया गया है कि जो हविष्य अग्नि में डाला जाता है वह अग्नि रूप होकर अग्नि देवता को प्राप्त होती है जिससे वे देवता संतुष्ट होकर मनोवांछित फल देते हैं इसलिए इस हविष्य (हवन सामग्री) को अग्नि में तभी डालना चाहिए जब अग्नि पूर्ण प्रज्वलित हो जाय तथा उससे लपटें निकलने लगे। उस समय इन लपटों के मध्य भाग में आहुति डालनी चाहिए जिससे वह पूर्ण रूप से अग्नि में परिवर्तित होकर अग्नि देवता को प्राप्त हो जाय। जब तक अग्नि प्रज्वलित न हो, उससे लपटें न निकलने लगें अथवा लपटें शान्त हो जायें उस समय आहुति डालने से वह हविष्य अग्नि रूप में परिवर्तित न होकर कच्चा ही रह जाता है जिससे वह अग्नि देवता को प्राप्त नहीं होता। यह उसहविष्य का भी दुरुपयोग ही है तथा अग्नि देवता

के संतुष्ट न होने पर वे अतृप्त होकर अनिष्ट कारक होते है। परब्रह्म के ज्ञान के लिए देवताओं को संतुष्ट करना आवश्यक है क्योंकि वे भी उसी के तेजोमय अंश है। वे इस यज्ञ कर्म से ही संतुष्ट होते है इसलिए शास्त्रों में इसका अनिवार्य विधान किया गया है। देवताओं का सूक्ष्म शरीर होने से वे स्थूल आहार को ग्रहण नही कर सकते इसलिए अग्नि मे प्रविष्ठ आहार ही सूक्ष्म होकर उनके लिए ग्रास होता है। इस आहार से ही उनको तृप्ति होती है जिससे उनके वल मे वृद्धि होती है तथा इसी से वे जगत् के लिए अधिक कल्याणकारी सिद्ध होते हैं। यही देवत्व शक्ति मनुष्य को पुनः अन्न, औषध, प्राण आदि के रूप में प्राप्त होती है जिससे स्वस्थ शरीर एवं स्वस्थ मन का निर्माण होता है। यह आदान प्रदान को क्रिया है। विना दिये कुछ नही मिलता। यदि मनुष्य देता नहीं है तो उसे प्राप्त भी नही हो सकता। इसलिए श्रेष्ठ की प्राप्ति के लिए यज्ञ कर्म को वेदों में प्रधानता दी गई है। इसी से मनुष्य निरोग, वलिष्ठ, कान्तिमान तथा श्री सम्पन्न होता है। सृष्टि का अस्तित्व ही इस आदान-प्रदान क्रिया का ही परिणाम है।

> ३. **"जिसका अग्नि होत्र दर्श नामक यज्ञ से रहित है, पौर्णमास नामक यज्ञ से रहित है, चातुर्मास्य नामक यज्ञ से रहित है, आग्रयण कर्म से रहित है, तथा जिसमें अतिथि सत्कार नहीं किया जाता, जिसमें समय पर आहुति नहीं दी जाती, जो बलि वैश्व देव नामक कर्म से रहित है, तथा जिसमें शास्त्र विधि की अवहेलना करके हवन किया गया है, ऐसा अग्नि होत्र उस अग्नि होत्री के सातों पुण्य लोकों का नाश कर देता है।"**

व्याख्या—प्रतिदिन किये जाने वाले अग्नि होत्र के साथ प्रत्येक अमावस्या, पूर्णिमा तथा चातुर्मास यज्ञ करना भी आवश्यक है। तथा वसन्त ऋतु में नवीन अन्न की इष्टि रूप आग्रयण यज्ञ भी करना अनिवार्य है। जो नित्य किये जाने वाले होत्र के साथ इन्हें नही करता है, तथा यज्ञ-शाला में आए हुए अतिथियों का सम्मान नही करता है तथा जो इसे नियमित व विधि पूर्वक भी नहीं करता है तथा वलि वैश्व देव कर्म नही करता, वह अग्नि होत्री पाप का ही भागी होता है। वह पृथ्वी से लेकर सत्यलोक तक के सातों लोको में होने वाले पुण्य फल भोग से वंचित ही रहता है। यज्ञ का उद्देश्य भोग प्रदान करना ही है। इसलिए इसे अपरा विद्या माना

गया। यह एक ऐसा शुद्ध कर्म है जिससे भोगों की भी प्राप्ति होती है तथा अन्तःकरण भी पवित्र होकर ज्ञान प्राप्ति के योग्य हो जाता है।

४. "जो काली, कराली तथा मनोजवा और सुलोहिता तथा सुधूम्रवर्णा स्फुलिंगिनी तथा विश्वरुचि देवी ये अग्नि की सात लपलपाती हुई जिह्वाएँ हैं।

व्याख्या—यज्ञ की जो अग्नि प्रज्वलित होती है, उस अग्नि से सात प्रकार की ज्वालाएँ निकलती हैं। ये ज्वालाएँ ही मानो उस अग्नि देव की सात जिह्वाएँ हैं जो उस हविष्य को ग्रहण करती है। ये ज्वालाएँ काली, कराली (अति उग्र जलाने वाली) मनोजवा-मन के समान अति चंचल, सुन्दर लाली लिए हुए, धूएँ के रंग वाली, चिन्गारियों वाली तथा सब ओर से देदीप्यमान होती हैं। जब ऐसी लपटें उठने लगें तभी उसमें आहुति दी जानी चाहिए अन्यथा वह हविष्य राख में मिल कर व्यर्थ जाता है। हविष्य के पूर्ण दग्ध हुए बिना वह अग्नि रूप में परिवर्तित नहीं होता जिससे उसका तेज अंश अग्नि रूप न होने से अग्नि देवता के लिए अग्राह्य ही रहता है।

५. "जो कोई भी अग्नि होत्री इन देदीप्यमान ज्वालाओं में ठीक समय पर अग्नि होत्र करता है उस अग्नि होत्री को निश्चय ही अपने साथ लेकर ये आहुतियाँ सूर्य की किरणें बनकर वहाँ पहुँचा देती हैं जहाँ देवताओं का एक मात्र स्वामी (इन्द्र) निवास करता है।"

व्याख्या—इस मंत्र में अग्नि होत्री को होने वाले लाभ को बतलाया गया है कि जो नित्य, नियमपूर्वक, शास्त्र विधि के अनुसार अग्नि होत्र करता है उस पर अग्नि देवता प्रसन्न होकर मृत्यु के उपरान्त वे उसे वहाँ पहुँचा देते हैं जहाँ देवताओं के स्वामी इन्द्र का निवास है अर्थात् वह स्वर्ग के भोगों का अधिकारी हो जाता है। अग्नि के उपासक अग्नि रूप हो जाते हैं। अग्नि ही वह मूल तत्त्व है जिससे सृष्टि रचना होती है। इसलिए वह अग्नि होत्री उस मूल अवस्था को प्राप्त होकर स्वर्ग के भोग भोगता है। चूंकि प्रत्येक कर्म का फल अवश्य होता है अतः इस अग्नि होत्र का फल स्वर्ग सुख बताया गया है।

६. "वे देदीप्यमान आहुतियाँ आओ, आओ, यह तुम्हारे शुभ कर्मों से प्राप्त पवित्र ब्रह्मलोक (स्वर्ग) है, इस प्रकार की प्रिय वाणी बार-बार कहती हुई उसका आदर सत्कार करती

हुई उस यजमान को सूर्य की रश्मियों द्वारा ले जाती हैं।

व्याख्या—अग्नि मे दी गई आहुतियाँ सूर्य किरणो मे परिवर्तित होकर उस अग्नि होत्री से प्रसन्न होकर उसे मृत्युपरान्त अपने साथ लेकर बड़े सम्मान एवं आदर के साथ स्वर्गलोक में पहुँचाती है। यह स्वर्गलोक अति सूक्ष्मलोक है जहाँ स्थूल शरीर का प्रवेश नही हो सकता। स्थूल शरीर छूटने पर जीवात्मा अपनी कामना एवं वासना के कारण कामलोक मे प्रवेश करती है जिसे प्रेतलोक भी कहते है। यही भुवर्लोक है। यह स्थूल की अपेक्षा अधिक सूक्ष्म है इससे भी अधिक सूक्ष्म स्वर्गलोक है। जिसकी निकृष्ट कामनाएँ समाप्त होकर उच्च कामनाएं ही शेष रह जाती है वह इस स्वर्गलोक में प्रवेश करता है जो भुवर्लोक से भी अधिक सूक्ष्म है। यही देवताओं का निवास स्थान है। अत. यज्ञ कर्मादि से जिनकी तुच्छ वासनाएँ क्षीण हो गई है वे ही इस लोक मे प्रवेश करते है। इसका स्वामी इन्द्र है। यही इसका तात्पर्य है। वहाँ पहुँचने का मार्ग सूर्य रश्मियों द्वारा ही होता है जिससे वह सूक्ष्म आत्मा गमन करती है।

७. "निश्चय ही ये यज्ञ रूप अठारह नौकाएँ अदृढ़ (अस्थिर) है जिनमें नीची श्रेणी का उपासना रहित सकाम कर्म बताया गया है। जो मूढ़ 'यही कल्याण का मार्ग है' ऐसा मानकर इसकी प्रशंसा करते है वे बार-बार निःसन्देह वृद्धावस्था और मृत्यु को प्राप्त होते रहते है।"

व्याख्या—इस मंत्र में ऋषि इस बात की चेतावनी देते हैं कि यद्यपि यह अग्नि होत्र प्रत्येक मनुष्य का कर्तव्य है किन्तु यह यज्ञ विधि भी अस्थिर है, सुदृढ़ नही है। ये अग्नि होत्र अठारह प्रकार के बताये गये है जो सकाम और निष्काम भाव से सम्पन्न किये जाते हैं। किन्तु दोनो प्रकार से किये जाने पर भी इनमे स्वर्गादि की ही प्राप्ति होती है तथा इन कर्म फलों का क्षय होने पर पुन. योनि मे जन्म लेना ही पड़ता है। ये मुक्ति के साधन नही है इसलिए ये स्थिर नही है। स्वर्गादि भोग भी स्थिर नही है, चिरस्थाई नही है। उनसे समयावधि समाप्त होने पर लौटना पड़ता है। फिर सकाम भाव से किये गये समस्त यज्ञ कर्म तथा विधिपूर्वक उन्हे सम्पन्न न करने पर वे स्वर्ग के भी साधन नही बनते। इसलिए ये ऐसी नौकाएँ हैं जो सुदृढ़ नही हैं तथा संसार समुद्र से पार होने का साधन नही बन सकती। इसे नीची श्रेणी का सकाम कर्म माना गया है। किन्तु मूढ लोग इस रहस्य को न समझ कर इसी को कल्याण का मार्ग समझ कर इसकी प्रशसा करते हैं

जिससे उनका इस जन्म-मृत्यु के चक्र से कभी छुटकारा नहीं हो सकता।

इस मन्त्र में ऋषि का यही कथन है कि ये यज्ञादि सकाम कर्म हैं जिनका फल भोग प्राप्ति ही है। किंतु स्वर्गादि के भोग भी तुच्छ हैं एवं अस्थिर हैं। सम्पूर्ण भोगों से वैराग्य हुए बिना परमात्म ज्ञान नहीं होता एवं परमात्म ज्ञान के बिना स्थाई मुक्ति नहीं होती। इसलिए भोगों की इच्छा रखने वाले ही यज्ञादि कर्मकाण्ड से संतुष्ट हो जाते हैं। मुक्ति की इच्छा रखने वाले इसमें नहीं उलझते।

८. "अविद्या के भीतर स्थित होकर भी अपने आप बुद्धिमान् बनने वाले और अपने को विद्वान् मानने वाले वे मूर्ख लोग बार-बार आघात सहन करते हुए वैसे ही भटकते रहते हैं जैसे अन्धे के द्वारा चलाये जाने वाले अन्धे।"

व्याख्या—सकाम कर्म अविद्या का ही अंग है। जिनकी भोगों में ही रुचि है वे ही इस प्रकार के यज्ञादि सकाम कर्म करते हैं तथा ऐसे व्यक्ति स्वयं को बुद्धिमान् एवं विद्वान् समझ कर बार-बार जन्म-मृत्यु रूपी आघात सहन करते हुए निरन्तर भटकते रहते हैं किंतु वे ऐसे मूढ़ हैं जो विद्या रूपी ज्ञान का सहारा न लेकर निरंतर इस अविद्या की उपासना में रत रहते हैं तथा दूसरों को भी ऐसी ही प्रेरणा देते हैं। वे लोग ऐसे अन्धे हैं कि इनको स्वयं को मार्ग का ज्ञान नहीं है जिससे ये भी भटकते हैं और दूसरे को भी भटकाते रहते हैं। ऐसे लोगों को विभिन्न योनियों में जन्म लेकर एवं नरकादि में प्रवेश करके जन्मों-२ तक अनन्त यंत्रणाएं सहन करनी पड़ती हैं।

इस मंत्र का उपदेश यही है कि सकाम कर्म त्याज्य है चाहे वे इस संसार में भोग प्राप्ति हेतु किये जाएं अथवा स्वर्ग प्राप्ति हेतु। सकाम कर्म ही समस्त दुःखों का कारण है। निष्काम भाव से किये गये कर्मों से अन्तः-करण की शुद्धि होती है तथा वही ज्ञान का मार्ग बन जाता है। अन्यथा वह भटकता ही रहता है। कोई भी कर्म बुरा नहीं है यदि उसे निष्काम भाव से किया जाय।

९. "वे मूर्ख लोग अविद्या में बहुत प्रकार से वर्तते हुए 'हम कृतार्थ हो गये' ऐसा अभिमान कर लेते हैं क्योंकि वे सकाम कर्म करने वाले लोग विषयों की आसक्ति के कारण कल्याण के मार्ग को नहीं जान पाते। इस कारण बारम्बार दुःख से

आतुर हो पुण्योपार्जित लोकों से क्षीण होकर नीचे गिर जाते हैं।"

व्याख्या—भोगों की प्राप्ति हेतु किये जाने वाले समस्त कर्म अविद्या ही हैं। ये भोग चाहे सांसारिक हों या स्वर्गादि के हों कभी भी मनुष्य को स्थाई शांति प्रदान नही कर सकते किंतु मूर्ख लोग ऐसे ही कर्मों को विविध प्रकार से करते हुए यह समझते है कि हम कृतार्थ हो गये। ऐसे सकाम कर्मों को करने वाले लोग विषयों की आसक्ति के कारण निरंतर बंधन ग्रस्त ही रहते हैं। वे कभी कल्याण के मार्ग को नही जान सकते। बेड़ियां चाहे लोहे की हो या सोने की, हैं बेड़ियां ही। स्वर्ग भोग ऐसी ही सोने की बेडियाँ हैं जो सुन्दर प्रतीत होने पर भी बंधन ही है क्योंकि स्वर्ग सुख भी स्थाई नही है। पुण्य के क्षीण होने पर उन्हे पुनः नीचे गिरा दिया जाता है जिससे वह पुन विविध योनियों में जन्म लेकर उस जन्म-मृत्यु रूपी दुःखों को भोगते रहते है। ज्ञानी कहते है कि यह आसक्ति ही बंधन है। जब स्वर्गादि की भी आसक्ति नही रहती तभी मोक्ष होता है तथा यही कल्याण मार्ग है। आसक्ति से किये जाने वाले समस्त कर्म अकल्याणकारी हैं।

१०. "इष्ट और पूर्त कर्मों को ही श्रेष्ठ मानने वाले अत्यन्त मूर्ख लोग उससे भिन्न वास्तविक श्रेय को नहीं जानते, वे पुण्य कर्मों के फलस्वरूप स्वर्ग के उच्चतम स्थान मे जाकर, वहाँ के भोगों का अनुभव करके इस मनुष्य लोक में अथवा इससे भी अत्यन्त हीन योनियों में प्रवेश करते हैं।"

व्याख्या—यज्ञ यागादि 'इष्ट कर्म' हैं तथा अन्य सकाम कर्म 'पूर्त कर्म' है। इन दोनो प्रकार के कर्मो को ही श्रेष्ठ मानने वाले मूर्ख लोग यह नही जानते कि इनसे उत्तम भी कोई मार्ग है जो स्थाई शांति एवं परमानंद का साधन है जहाँ पहुंच कर वह सदा के लिए इस जीवन-मृत्यु के चक्र से मुक्त हो जाता है। वे इस परम कल्याणकारी मार्ग को न जानकर ही 'इष्ट' और 'पूर्त' कर्मों में सलग्न रहते हैं। वे पुण्य कर्मो के फलस्वरूप स्वर्गादि की प्राप्ति तो कर लेते हैं किंतु उस पुण्य कर्म का भी क्षय होता है। पुण्य कर्म के फलस्वरूप चाहे वे इन्द्र का आसन ही क्यों न ग्रहण कर ले किंतु उन पुण्यों के क्षय होते ही उन्हे पुनः मनुष्य योनि में अथवा उससे भी नीचे की योनियों में जन्म लेना पड़ता है क्योंकि पुण्य फल का भोग करने पर जिन पाप कर्मो का फल शेष रह जाता है उन्हे भी भोगना ही पड़ता है। पुण्य कर्मों से पाप कर्म कटते नही वल्कि दोनो का फल अलग-अलग भोगना पड़ता है।

करा सकते। इसलिए वैराग्य भावना अनिवार्य है। कर्मों को छोड़ना नहीं है बल्कि उनके प्रति वैराग्य भावना का होना ही उनका त्याग है। जैसा कि ईशावास्योपनिषद् में कहा है 'त्यागपूर्वक अपना पालन कर' यही वैराग्य भावना है। गुरु की शरण जाना, त्याग भावना, नम्रता, अहंकार त्याग, आसक्ति त्याग, आदि से ही पात्रता आती है जिससे ज्ञान का द्वार खुलता है। यही इसमें उपदेश किया गया है।

१३. "वह ज्ञानी महात्मा शरण में आये हुए पूर्णतया शान्त चित्त वाले शमदमादि साधन युक्त उस शिष्य को उस ब्रह्म-विद्या का तत्त्व विवेचन पूर्वक भली-भांति उपदेश करे, जिससे वह शिष्य अविनाशी, नित्य, परम पुरुष को जान ले।"

व्याख्या—जानने योग्य वही परम पुरुष परब्रह्म है जिसके जान लेने से सब कुछ जाना हुआ हो जाता है। फिर जानने को कुछ भी शेष नहीं रहता। जिसने उसे तत्त्व रूप से जान लिया उसके सभी कर्म बंधन छूट जाते हैं तथा वह जन्म-मृत्यु से मुक्त होकर उस अक्षय परम पद का अधिकारी हो जाता है। यही उसकी परमगति है जिसको देवता भी प्राप्त नहीं कर सके हैं। इसी को परा-विद्या कहते हैं। ऐसे ज्ञान के मुमुक्षु शिष्य की गुरु परीक्षा करता है कि उसमें पात्रता है या नहीं। पात्रता पूर्ण होने पर वह उसको तत्त्व विवेचन का उपदेश करता है कि वह परब्रह्म तत्त्व कैसा है, उससे सृष्टि रचना किस प्रकार हुई, जीव, आत्मा, सृष्टि तथा ब्रह्म के अभेद सम्बंध की व्याख्या करता है तथा वह विधि भी बताता है जिससे वह उस अविनाशी, नित्य परब्रह्म को जान सके। वह महात्मा चूंकि स्वयं ज्ञान प्राप्त कर चुका है अतः वही सही मार्ग बता सकता है तथा वह यह भी देखता है कि उस शिष्य का चित्त भोगों की ओर से पूर्णतया शांत हो चुका है। जिसकी भोगों में ही रुचि है उसको तत्त्व बोध करने का निषेध है क्योंकि वह उस ज्ञान का भोगों में काम लेकर नरकगामी हो सकता है। अष्टावक्र गीता में कहा गया है—"यह तत्त्व बोध वाचाल, बुद्धिमान और महा उद्योगी पुरुष को गूंगा, जड़ और आलसी कर जाता है। इसलिए भोग की अभिलाषा रखने वालों के द्वारा तत्त्वबोध व्यक्त है।" (अष्टावक्र

गीता १५/३) । योग वाशिष्ठ में भी महर्षि वशिष्ठ ने इस पात्रता पर सर्वाधिक जोर दिया है । इस मंत्र में भी बताया गया है कि पूर्णतया जो विषय-वासनाओं से शांत हो चुका है तथा जिसने शम, दम आदि को पूर्णतया साध लिया है उसी शिष्य को वह ज्ञानी गुरु उपदेश करे जिससे उस पर उचित प्रभाव पड़कर वह आत्मानंद का अनुभव कर सके । अयोग्य पात्र होने पर वह उस ज्ञान का दुरुपयोग कर नरकगामी हो सकता है । वही गुरु श्रेष्ठ है जो पात्रता की परीक्षा करके ही उपदेश देता है अन्यथा जहर में अमृत रूपी ज्ञान भी विष बन जाता है ।

—.०.—

॥ द्वितीय खण्ड समाप्त ॥२॥

—०—

॥ प्रथम मुण्डक समाप्त ॥ १ ॥

—:०:—

द्वितीय मुण्डक

(अ) प्रथम खंड

१. "हे प्रिय ! वह सत्य यह है । जिस प्रकार प्रज्वलित अग्नि में से उसी के समान रूप वाली हजारों चिनगारियां नाना प्रकार से प्रकट होती हैं, उसी प्रकार अविनाशी ब्रह्म से नाना प्रकार के भाव उत्पन्न होते हैं और उसी में विलीन हो जाते हैं ।"

व्याख्या—इस मंत्र में ब्रह्म से जगत् की उत्पत्ति तथा उसमें लय किस प्रकार होता है इसे अग्नि के उदाहरण द्वारा समझाया गया है कि जिस प्रकार अग्नि से विभिन्न चिनगारियाँ उत्पन्न होती हैं जो स्वयं अग्नि ही है तथा उसी के समान रूप, रंग वाली होती है ऐसे ही यह जगत् ब्रह्म से उत्पन्न होता है जो उसी के रूप वाला है । अर्थात् इस सृष्टि एवं ब्रह्म

में भिन्नता नहीं है। इसके तीन उदाहरण मकड़ी और जाले का, पृथ्वी और औषधि का तथा शरीर और रोयें का प्रथम मुण्डक के प्रथम खंड के मंत्र ७ में दिया गया है। इसका तात्पर्य यह है कि यह सम्पूर्ण जगत् उसी ब्रह्म का फैलाव मात्र है तथा उसी से उत्पन्न हुआ है। प्रकृति और पुरुष, जड़ और चेतन, आत्मा और परमात्मा, जीव और ईश्वर जैसी कोई दो भिन्न सत्ताएं नहीं हैं। सृष्टि ही ब्रह्म है एवं ब्रह्म ही सृष्टि रूप में अभिव्यक्त हुआ है ऐसा अर्थ है।

महर्षि अंगिरा शौनक मुनि को पहले अपरा विद्या का रहस्य एवं उसका फल बतला कर अब इस परम कल्याणकारी परा विद्या का रहस्य समझाते हैं, जो उच्चतम ज्ञान है जिसे जानकर व्यक्ति मोक्ष को प्राप्त होता है जो उसकी परमगति है।

वैज्ञानिकों के अनुसार पदार्थों का निर्माण ऊर्जा से होता है। उपनिषद् इससे भी परे की बात कहता है जो अभी वैज्ञानिकों की पकड़ में नहीं आया है कि वह चैतन्य ब्रह्म है जिससे सृष्टि के सभी भाव मूर्त और अमूर्त पदार्थ, स्थूल और सूक्ष्म, पदार्थ और ऊर्जा आदि उत्पन्न होते हैं। वैज्ञानिकों की ऊर्जा भी अध्यात्म के अनुसार अंतिम तत्त्व नहीं है। अंतिम तत्त्व ब्रह्म है। ऊर्जा भी उसी का व्यक्त रूप है। फिर विज्ञान का सम्बंध मूर्त पदार्थों से ही है वह अमूर्त की व्याख्या करने में असमर्थ है जैसे प्रेम, दया, करुणा, अहंकार, क्रोध आदि अमूर्त की व्याख्या वह नहीं दे सकता किंतु अध्यात्म इनकी भी सत्ता स्वीकार करता है तथा इनकी उत्पत्ति का कारण भी बताता है। इस प्रकार अध्यात्म भी एक उन्नत विज्ञान है। यह ऐसा विज्ञान नहीं है जो यह कहे कि परमात्मा ने अपनी मर्जी से सृष्टि बनाई बल्कि यह वैज्ञानिक दृष्टि है कि आरम्भ में एक ऐसा मौलिक तत्त्व था जिसका विकास होकर इस जगत् का निर्माण हुआ। जिस प्रकार पदार्थ का पुनः ऊर्जा में रूपांतरण हो जाता है उसी प्रकार प्रलय काल में यह सृष्टि पुनः उसी चेतन ऊर्जा रूप ब्रह्म में विलीन हो जाती है। जिस प्रकार चीनी के घोल में रवे बनकर मिश्री का रूप ले लेते हैं तथा वे पुनः उसमें मिलकर घोल बन जाते हैं ऐसे ही सृष्टि की रचना एवं प्रलय होता है। यह प्रयोग द्वारा भी सिद्ध होता है।

२. "निश्चय ही दिव्य पूर्ण पुरुष आकार रहित, समस्त जगत् के बाहर और भीतर भी व्याप्त, अजन्मा, प्राण रहित, मन रहित, होने के कारण, सर्वथा विशुद्ध है। इसीलिए अविनाशी जीवात्मा से अत्यन्त श्रेष्ठ है।"

व्याख्या—इस मंत्र में उस परब्रह्म के स्वरूप का वर्णन किया गया है कि वह परब्रह्म दिव्य है 'तथा पूर्ण पुरुष है।' तथा सृष्टि की समस्त सम्पूर्णता उसमे विद्यमान है। वह आकार रहित है तथा प्राण रहित है, मन रहित है। प्राण और मन की अभिव्यक्ति उससे होती है किन्तु वह स्वयं प्राण एवं मन से क्रियाशील नही होता। वह सर्वथा विशुद्ध है। उसमे कोई विकार नही है। जीवात्मा भी उसी का रूप है किन्तु ब्रह्म उससे श्रेष्ठ है। वह सृष्टि के भीतर और बाहर सर्वत्र व्याप्त है। कोई भी स्थान ऐसा नही जहाँ वह न हो। वह समस्त सृष्टि का सारभूत तत्व है जिसका विकास हो यह सृष्टि है। सृष्टि मे ऐसी कोई वस्तु नही, जो इसमें न हो किन्तु वह उसकी विशुद्धावस्था में है। सृष्टि में उसके अतिरिक्त कोई बाह्य तत्त्व नही है इसलिए यह सृष्टि उससे भिन्न कदापि नही है।

> ३. इसी परब्रह्म से प्राण, मन, समस्त इन्द्रियाँ, आकाश, वायु, ज्योति, जल और सम्पूर्ण विश्व को धारण करने वाली पृथ्वी उत्पन्न होते हैं।"

व्याख्या—इसी निराकार परब्रह्म से यह साकार जगत जिसमें वायु, आकाश, ज्योति, जल और पृथ्वी आदि पंचभूत तथा मन, प्राण और इन्द्रियाँ उत्पन्न होते है। इस प्रकार इस साकार जगत् का आधार अथवा कारण वह निराकार ब्रह्म ही है जो मूल मे सत्ता रूप से विद्यमान है। यह सृष्टि शून्य से नही आई है। शून्य से किसी का निर्माण नही हो सकता। मिट्टी से ही घडा बनता है। जब मिट्टी ही नही तो घडा कैसे बन सकता है। ऊर्जा से पदार्थ बनते हैं, जब ऊर्जा ही नही है तो पदार्थ किस प्रकार बन सकता है। इस प्रकार भारतीय अध्यात्म के अनुसार वह ब्रह्म शून्य नही, पूर्ण है। उसी से पूर्ण सृष्टि का निर्माण होता है। ईशावास्य का शान्ति पाठ इसी पूर्ण की व्याख्या देता है। भारतीय वेदान्त का यही सार है।

> ४. "इस परब्रह्म परमेश्वर का अग्नि मस्तक है, चन्द्रमा और सूर्य दोनों नेत्र है, सब दिशाएँ दोनो कान है, और विस्तृत वेद वाणी है, वायु प्राण है, जगत् हृदय है, इसके दोनो पैरों से पृथ्वी है। ऐसा ही समस्त प्राणियों का यह अन्तरात्मा है।"

व्याख्या—इस मंत्र में उस परब्रह्म का इस रूपक के साथ वर्णन

किया गया है जिसका अर्थ है सृष्टि में पाये जाने वाले सभी तत्त्व जैसे अग्नि, चन्द्रमा, सूर्य, दिशाएँ, वेद (ज्ञान) वायु, जगत् तथा पृथ्वी आदि उसी के विभिन्न अंश मात्र हैं। ये सभी तत्त्व भिन्न-भिन्न नहीं हैं, न इसकी भिन्न सत्ता ही है वल्कि उसी एक विराट् परब्रह्म के विभिन्न अंग जैसे हैं। इसी प्रकार सभी प्राणियों का अन्तरात्मा भी यही परब्रह्म है। इस दृष्टांत से सिद्ध होता है कि यह सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड एक ही इकाई है अथवा एक ही विराट् ईश्वरात्मा के विभिन्न अंग हैं। इनमें भिन्नता देखना ही अज्ञान अथवा अविद्या है तथा ज्ञान की स्थिति में जब इन सब की एकता का ज्ञान हो जाता है, इसी को 'विद्या' कहते हैं। यही विद्या कल्याण की हेतु है तथा अविद्या के कारण ही व्यक्ति की भोगों में रुचि होती है जिससे उसका पतन होता है। अविद्या-कर्म ही वन्धन का हेतु होता है। इन्हीं को परा और अपरा विद्या कहा गया है। सम्पूर्ण सृष्टि में एकत्व का ज्ञान होना ही परा विद्या है। परा विद्या से ज्ञान होने पर सम्पूर्ण सृष्टि ब्रह्ममय ज्ञात होने लगती है।

५. **"उससे ही अग्निदेव प्रकट हुआ, जिसकी समिधा सूर्य है, (उस अग्नि से सोम उत्पन्न हुआ) सोम से मेघ उत्पन्न हुए, (मेघों से वर्षा द्वारा) पृथ्वी में नाना प्रकार की औषधियाँ उत्पन्न हुईं। (औषधियों के भक्षण से उत्पन्न हुए वीर्य को पुरुष स्त्री में सिंचन करता है जिससे सन्तान उत्पन्न होती है) इसे प्रकार उस परम पुरुष (ब्रह्म) से ही नाना प्रकार के चराचर प्राणी नियमपूर्वक उत्पन्न हुए हैं।"**

व्याख्या—इस सम्पूर्ण चराचर जगत् का, उस एक परब्रह्म से किस प्रकार विकास हुआ यह इस मंत्र में बहुत ही संक्षेप में वता दिया गया है। वेदों में इसका विस्तृत वर्णन है। यहाँ एक ही सूत्र में वता दिया कि इस भौतिक सृष्टि की रचना में सर्व प्रथम अग्नि तत्त्व प्रकट हुआ। यह हमारी प्रज्वलन शील अग्नि नहीं वल्कि इसका मूल तत्त्व है जो अप्रकट था। सूर्य उसका प्रकट रूप है। इसे उस अग्नि की समिधा (ईंधन) कहा गया है। जिस प्रकार अग्नि में प्रविष्ठ होकर समिधा जलती है, स्वयं अग्नि समिधा के विना प्रकट नहीं होती उसी प्रकार सूर्य रूपी समिधा से ही वह अग्नि प्रकट होती है। सूर्य स्वयं अग्नि नहीं है वल्कि समिधा रूप है जिसके जलने से अग्नि प्रकट होती है। यही अग्नि जव शांत हो जाती है तो उसका ताप कम हो जाने से इसको 'सोम' कहा जाता है। इस प्रकार अग्नि ही

सोम में परिवर्तित हो जाती है तथा ताप को पाकर सोम पुनः अग्नि मे परिवर्तित हो जाता है। मूल तत्त्व अग्नि ही है। इसी से सोम की उत्पत्ति होती है। ये अग्नि और सोम तत्त्व गैसीय अवस्था है। अग्नि का रूप ही घना होकर सूर्य बना तथा सोम तत्त्व घना होकर मेघ रूप मे परिवर्तित हुआ। सोम का यहाँ अर्थ हमारी पृथ्वी के चन्द्रमा से नही हैं बल्कि अग्नि रूप तत्त्व का शीतल रूप है। इन मेघों से वर्षा होती है, वर्षा से नाना प्रकार के अन्न और ओषधियाँ उत्पन्न होती हैं। इन्हीं अन्न और औषधियों के भक्षण से मनुष्य के शरीर का निर्माण होता है। शरीर का निर्माण अन्न से रस, रक्त, माँस, मेद, अस्थि, मज्जा के क्रम से होता है तथा अन्त मे मज्जा से वीर्य बनता है। इस वीर्य को पुरुष, स्त्री योनि मे सिंचन करता है जिससे सन्तानोत्पत्ति होती है। इसी प्रकार अन्य सभी जीव, पशु, पक्षी, वृक्षादि अपने विशिष्ट नियम के अनुसार उत्पन्न होते हैं। इस प्रकार समस्त चराचर जगत् की उत्पत्ति का कारण वह अग्नि तत्त्व ही है जो सर्वत्र व्याप्त है तथा यह अग्नि तत्त्व उस परब्रह्म की ही एक शक्ति है। जो उसी से प्रकट हुआ है। इस प्रकार सम्पूर्ण सृष्टि उस ब्रह्म का ही फैलाव है। भगवान कृष्ण ने गीता मे भी यही कहा है—

> 'अन्नाद् भवन्ति भूतानि पर्जन्यादन्न सभव.।
> यज्ञात् भवति पर्जन्यो यज्ञः कर्म समुद्भव ॥"
>
> (गीता ३/१४)

(सभी प्राणी अन्न से उत्पन्न होते हैं, और अन्न की उत्पत्ति वृष्टि से होती है, वृष्टि यज्ञ से होती है और यज्ञ कर्मों से उत्पन्न होने वाला है।)

६. "उस परमेश्वर से ही ऋग्वेद की ऋचाएँ, सामवेद के मंत्र, यजुर्वेद की श्रुतियाँ और दीक्षा तथा समस्त यज्ञ, क्रतु एवं दक्षिणाएँ तथा संवत्सर रूप काल, यजमान और सब लोक उत्पन्न हुए हैं, जहां चन्द्रमा, और सूर्य प्रकाश फैलाता है)।"

व्याख्या—इस मत्र मे यह स्पष्ट किया गया है कि जिस प्रकार उस परब्रह्म से सम्पूर्ण सृष्टि का विकास हुआ है उसी प्रकार उस सृष्टि की रक्षा एवं उन्नति के लिए किये जाने वाले समस्त साधनों का विकास भी उसी परब्रह्म से हुआ है। परब्रह्म से दो प्रकार की धाराओं का उद्भव होता है—ज्ञान तथा क्रिया। कियाशक्ति का परिणाम यह सम्पूर्ण दृश्य जगत् है तथा कर्म है तथा ज्ञान शक्ति से वेदों का उद्भव हुआ। ज्ञान और क्रियाशक्ति अभिन्न है जिनका मूल स्रोत वही परब्रह्म है। यह ज्ञान

सर्व प्रथम ब्रह्मा द्वारा प्रकट हुआ इसलिए इनको ज्ञान के आदि गुरु माना जाता है। यह ज्ञान ऋग्वेद, यजुर्वेद तथा सामवेद के रूप में सर्व प्रथम इस लोक में प्रकट हुआ। इन्हीं में दिए गये विधि-विधान के अनुसार इस सृष्टि की व्यवस्था एवं रक्षा होती है। इसकी व्यवस्था हेतु ही यज्ञ, दीक्षा, यजमान, दक्षिणाएँ आदि का विधान किया गया है जिससे यज्ञ के माध्यम से यह सृष्टि चक्र निरन्तर गतिशील रह सकता है। यज्ञ कर्म के लिए विधिपूर्वक दीक्षा, यजमान, दक्षिणाओं का भी महत्त्व है। बिना इनके कोई भी यज्ञ सफल नहीं होता तथा बिना यज्ञ के सृष्टि का सुसंचालन नहीं हो सकता। इसी यज्ञ के परिणाम स्वरूप संवत्सर रूप काल नियमित गति से चलता है तथा सूर्य और चन्द्रमा को तेज प्राप्त होता है जो इस सृष्टि के जीवन का आधार है। इस प्रकार यह सारी व्यवस्था वेदों में दी गई है तथा वेद (ज्ञान) का उद्गम भी वही परब्रह्म है इसलिए वह परब्रह्म केवल अपनी क्रियाशक्ति द्वारा सृष्टि की रचना ही नहीं करता बल्कि ज्ञान द्वारा उसकी रक्षा, व्यवस्था एवं सुसंचालन भी करता है। यदि वेदों द्वारा वह इसकी व्यवस्था नहीं करता तो लोगों द्वारा मनमाना आचरण किये जाने के कारण सर्वत्र अव्यवस्था हो जाती। इसलिए वेद विहित कर्मों का अनुष्ठान करना ही सभी का कर्त्तव्य है। यही इसका भाव है।

७. **"तथा उसी परमेश्वर से अनेक भेदों वाले देवता लोग उत्पन्न हुए, साध्यगण, मनुष्य, पशु-पक्षी, प्राण अपान वायु, धान, जौ आदि अन्न तथा तप, श्रद्धा, सत्य और ब्रह्मचर्य एवं यज्ञ आदि के अनुष्ठान की विधि भी उत्पन्न हुई।"**

व्याख्या—इस मन्त्र में और भी स्पष्ट किया गया है कि इस सम्पूर्ण सृष्टि में जो भी है वह सब उसी परब्रह्म से ही उत्पन्न हुआ है। उससे भिन्न किसी की भी स्वतन्त्र सत्ता नहीं है न कोई भिन्न तत्त्व ही है। अद्वैत की यह पूर्ण व्याख्या है। इस सृष्टि में देवताओं का भी अस्तित्व है। ये देवता उस परब्रह्म की विभिन्न शक्तियों को धारण किये हुए हैं जिससे वे इस सृष्टि के विभिन्न कार्यों में अपनी-अपनी शक्ति के अनुसार योग देते हैं तथा इसकी व्यवस्था करते हैं। वह ब्रह्म इस सृष्टि का कारण मात्र है। इसकी रचना ब्रह्मा द्वारा होती है तथा ब्रह्मा द्वारा बनाये गये नियमों के अनुसार ये देवतागण इसके सुसंचालन में योग दान करते हैं। ये नियमों को बदल नहीं सकते किन्तु उनके अनुसार व्यवस्था करने का सम्पूर्ण भार इन देवताओं पर ही है। अत: इनका ही सर्वाधिक महत्व होने से इनका सर्वत्र पूजा, प्रतिष्ठा, आह्वान आदि का विधान है। प्रत्येक शुभ कार्य में

इन्हीं का आह्वान किया जाता है। ये देवता प्रसन्न भी होते है तथा कुपित भी। इन्हें संतुष्ट करने पर ये सहायता भी देते हैं तथा कुपित होकर वे उपद्रव भी करते है। भिन्न-२ कार्यों के लिए भिन्न-२ देवता हैं। उनकी आराधना, उपासना का वे ही फल देते है। इस प्रकार इस सृष्टि की सम्पूर्ण कार्य प्रणाली का संचालन देवता ही कर रहे है किन्तु उनकी भी स्वतंत्र सत्ता नही है। उस परब्रह्म की ही विभिन्न शक्तियाँ देवता रूप में प्रकट होकर इसका संचालन कर रही हैं। इस प्रकार ये देवतागण भी उसी परब्रह्म से उत्पन्न माने गये है। वह परब्रह्म इन्ही के माध्यम से अपना कार्य कर रहे है अतः वे इससे भिन्न नही है। शक्तियों की भिन्नता के कारण ही इनके अनेक भेद हैं जैसे रुद्र देवता, अग्नि देवता, वरुण देवता, सूर्य देवता, इन्द्र देवता आदि उस परब्रह्म की विभिन्न शक्तियाँ ही है। इसी प्रकार उसी परब्रह्म से साध्यगण, नाना प्रकार के मनुष्य, पशु, पक्षी तथा अन्य प्राणी भी उत्पन्न हुए हैं। साथ ही इनके भीतर स्थित प्राण, अपान वायु भी उसी से प्राप्त होता है जो जीवन का आधार है। मनुष्य ने इन्हे पैदा किया। अन्न आदि की उत्पत्ति भी उसी से होती है जो प्राणियों का आहार है। मनुष्य जो कर्म, तप आदि करता है, श्रद्धा, सत्य, ब्रह्मचर्य आदि का पालन करता है यह भी उसी की शक्तियों से प्राप्त है। यज्ञ आदि अनुष्ठान की विधि भी वेदो में दी गई है। चूँकि ये वेद (ज्ञान) भी ईश्वर प्रदत्त है अतः यह भी उसी का है। फिर मनुष्य किस आधार पर इन्हे अपना कहता है। यह अपना कहना ही उसका अहंकार है जो मूल पाप बन जाता है। अन्यथा यह सम्पूर्ण सृष्टि उसी की क्रिया शक्ति से निर्मित है तथा उसी की ज्ञान शक्ति से सचालित है। अतः वही कारणों का कारण परम कारण है। सब कुछ उसी से नियंत्रित, सचालित एवं निर्मित है। उससे भिन्न किसी की सता नही है। इनमे भिन्नता देखना तथा इनकी भिन्न सत्ता मानना ही अज्ञान है। अभेद दर्शन का बडा महत्वपूर्ण मत्र है यह। जो इसके भाव को ठीक प्रकार से समझ लेता है वह उस परम कल्याण के मार्ग पर चल कर स्वयं का कल्याण कर सकता है अन्यथा यह अज्ञान में भटकता ही रहता है।

८. "उसी परमेश्वर से सात प्राण उत्पन्न होते हैं तथा अग्नि की सात लपटें, सात (विषय रूपी) समिधाएँ, सात प्रकार के हवन तथा ये सात लोक (इन्द्रियो के सात द्वार) जिनमे ये प्राण विचरण करते हैं। हृदय रूपी गुहा में शयन करने वाले

ये सात-सात के समुदाय सब उसी के द्वारा प्राणियों में स्थापित किये हुए हैं (उसी से उत्पन्न किये हुए हैं)।"

व्याख्या—वही परब्रह्म एक परम शक्ति है जिससे प्राण शक्ति का उदय होता है। ये प्राण ही शरीर में व्याप्त होकर शरीर की क्रियाओं का संचालन करते हैं। इनके नाम हैं—वाक्, प्राण, चक्षु श्रोत्र मन, प्रजनन एवं अपान। अग्नि तत्त्व की उत्पत्ति भी इसी ब्रह्म से होती है जो सात प्रकार की लपटों में दिखाई देती है। इंद्रियों के विषय सम्बंधी सात वृत्तियाँ भी जो विषयों को ग्रहण करने वाली हैं वे भी इसी से उत्पन्न होती हैं। ये समिधा रूप है जो इस ज्ञान रूपी अग्नि में भस्म हो जाती है। इन सात वृत्तियों के कारण हवन भी सात प्रकार का है जिसमें इनको भस्म किया जाता है। ये बाह्य विषय इंद्रियों से ही उत्पन्न होते हैं तथा इन्हीं में इनकी आहुति दी जाती है। इंद्रियों के निवास स्थान रूप सात लोक भी इसी ब्रह्म से उत्पन्न हैं जिनमें रह कर सात प्राण अपना कार्य करते हैं। ये सभी सात-सात के समुदाय हृदय रूपी गुहा से उत्पन्न होते हैं तथा यहीं से इनका प्रसार होता है। इस प्रकार शरीर की समस्त कार्य प्रणाली का उद्‌गम एवं नियंत्रण करने वाला वही परब्रह्म है। उससे भिन्न इन सबका कोई अस्तित्व नहीं है। न इनकी रचना संभव है न इनका कार्य। इसका अर्थ यही है कि जिस प्रकार सृष्टि के अन्य तत्त्व उसी परब्रह्म से उत्पन्न हैं उसी प्रकार यह शरीर, प्राण, इंद्रियाँ, विषय वृत्तियाँ आदि भी उसी से उत्पन्न हैं। वे मनुष्य द्वारा निर्मित नहीं हैं न मनुष्य का इन पर अधिकार ही है। ये सब उसी चेतन शक्ति से संचालित हो रहे हैं।

९. "इसी से समस्त समुद्र और पर्वत उत्पन्न हुए हैं, इसी से अनेक रूपों वाली नदियाँ बहती हैं तथा इसी से सम्पूर्ण औषधियाँ और रस उत्पन्न हुए हैं। इनसे ही पुष्ट इस शरीर में अन्तरात्मा रूप से यह परमेश्वर सब प्राणियों में स्थित है।"

व्याख्या—सृष्टि की उत्पत्ति के क्रम में ही इस मंत्र में यह बताया गया है यह समस्त भौतिक जगत् जिनमें समुद्र, पर्वत, नदियाँ, वनस्पति, तथा उनके रस आदि भी उसी परब्रह्म से उत्पन्न हुए हैं जिनका सेवन करके ही इस शरीर का निर्माण एवं पुष्टि होती है तथा इसी शरीर के भीतर वह परमात्मा अंतरात्[illegible] में स्थित है। इसका तात्पर्य यही है कि इन सब की उत्पत्ति का कारण वह एक परम तत्त्व है जो विकास को

प्राप्त होकर इन सब रूपों में दिखाई देता है तथा इन्ही से शरीर का निर्माण व पुष्टि होती है। वह सत्ता तत्त्व इन सब में अभिव्यक्त होकर भी शरीर मे आत्म रूप से सदा विद्यमान रहता है।

१०. "तप, कर्म और परम अमृत रूप ब्रह्म, यह सब विश्व, वह परम पुरुष ही है। हे प्रिय ! हृदय रूपी गुहा में स्थित इस अन्तर्यामी परम पुरुष को जो जानता है वह इस मनुष्य शरीर में ही अविद्या जनित गाँठ को खोल डालता है।"

व्याख्या—इस मुण्डक के मंत्र संख्या ५ से ९ तक यह स्पष्ट किया गया है कि यह सम्पूर्ण भूत एव प्राणी सृष्टि तथा शरीर एवं उसकी कार्य प्रणाली, देवता एव विभिन्न लोक सभी उसी परब्रह्म से उत्पन्न हुए है। उससे भिन्न किसी का भी अस्तित्व एव सत्ता नही है। वह ब्रह्म समस्त सृष्टि की रचना एव व्यवस्था करता हुआ प्रत्येक प्राणी के भीतर अन्तरात्मा रूप से स्थित रहता है। जो इस रहस्य को जान लेता है उसकी अज्ञान ग्रंथि खुल जाती है तथा उसमें ज्ञान का आलोक हो जाता है। ज्ञानी की यही परम गति है जिसे प्राप्त कर वह जन्म मृत्यु के चक्र से सदा के लिए छूट जाता है।

यह अविद्या ग्रंथि क्या है ? यह सम्पूर्ण जगत् नित्य, एवं शाश्वत नहीं है। यह क्षण भगुर तथा नाशवान् है। इसे ही सत्य, शाश्वत एव नित्य समझ लेना ही भ्रम है। इसे इसी कारण 'मिथ्या' कहा गया है जो भ्रम वश ही सत्य जैसा भासता है किन्तु नित्य, सत्य एवं शाश्वत वह परब्रह्म ही है जो जगत् रूप मे भास रहा है। इस सत्य का ज्ञान न होने से यह असत्य जगत् ही सत्य जैसा दिखाई देता है। यही भ्रम 'अविद्या' है तथा उस सत्य स्वरूप को जानना ही 'विद्या' है। इस भ्रम के कारण इस सृष्टि को उस ब्रह्म से भिन्न मानना ही अज्ञान है। परमात्म ज्ञान से ही यह अज्ञान ग्रन्थि खुलती है।

इसी अज्ञान के कारण अहभाव उत्पन्न होकर वासना, कामना, आसक्ति आदि उत्पन्न होते है तथा यही दुःखों का कारण है। सम्यक् दर्शन अथवा प्रत्यक्ष दर्शन से ही यह भ्रान्ति मिटती है जिससे सम्पूर्ण सृष्टि में एकत्व का बोध हो जाता है जिससे यह मिथ्या भ्रम मिटकर जीव परम-शांति का अनुभव करता है। इसे 'चिज्जड़-ग्रन्थि' कहते हैं। इसी भ्रम के कारण जीव भोगों की ओर आकर्षित होता है। भोगो से वैराग्य होने पर ही वह आत्म तत्त्व का साक्षात्कार करता है।

इस खण्ड में सम्पूर्ण सृष्टि को परब्रह्म स्वरूप सिद्ध किया गया है कि उससे भिन्न किसी की सत्ता नहीं है। वही एक चेतन तत्त्व सभी रूपों में अभिव्यक्त हो रहा है। इस प्रकार जो सर्वत्र उसी का दर्शन कर इस सृष्टि को एकत्व भाव से देखता है वही ज्ञानी है। ऐसा ज्ञान प्राप्त होने पर वह सम्पूर्ण दुःखों से मुक्त होकर मोक्ष प्राप्त करता है।

॥ प्रथम खण्ड समाप्त ॥

(ब) द्वितीय खण्ड

१. "जो प्रकाश युक्त, अत्यन्त समीपस्थ, हृदय रूपी गुहा में स्थित होने से गुहाचर नाम से प्रसिद्ध महान् पद है। जितने भी चेष्टा करने वाले, श्वांस लेने वाले और आँखों को खोलने, मूँदने वाले प्राणी हैं वे सब के सब इसी में समर्पित हैं। इस परमेश्वर को तुम लोग जानो, जो सत् और असत् है, सबके द्वारा वरण करने योग्य अतिशय श्रेष्ठ है तथा समस्त प्राणियों की बुद्धि से जानने में न आने वाला है।"

व्याख्या—इस खण्ड में उस परब्रह्म को जानने का तथा उसके स्वरूप का वर्णन किया गया है। वह ब्रह्म जहाँ समस्त समष्टि में व्याप्त है वहीं वह प्रत्येक प्राणी की हृदय रूपी गुफा में स्थित होने से अत्यन्त ही समीप है। वह प्रकाशयुक्त है। सर्वत्र उसी का प्रकाश है। वही हृदय की धड़कन है तथा वही समस्त क्रियाओं का आधार है, वही समस्त सृष्टि का स्पन्दन है तथा वही महान् पद है। इस सृष्टि की समस्त चेष्टाएँ श्वाँस लेना, आँखों का खोलना एवं बंद करना आदि जो समस्त प्राणियों में होता है वह सब उसी के कारण है। उसके बिना किसी प्रकार की चेष्टा या हल-चल हो ही नहीं सकती। वह परमेश्वर अपने मूल स्वरूप से सत् है क्योंकि वही नित्य एवं शाश्वत् है तथा दूसरी ओर जगत् रूप से वह असत् है क्योंकि यह जगत् भी उसी का रूप है किंतु अनित्य एवं क्षण भंगुर है। उसका यह नित्य एवं शाश्वत स्वरूप ही वरण करने योग्य है, वही जानने योग्य है क्योंकि उसके जानने से यह सम्पूर्ण जगत् जाना हुआ हो जाता है इसलिए वही अतिशय श्रेष्ठ है। किंतु वह बुद्धि का विषय नहीं है। बुद्धि एवं अन्य इन्द्रियों से उसे नहीं जाना जा सकता। वह तर्क और प्रमाणों से नहीं जाना जा सकता। इन्द्रियों की ग्रहण शक्ति से बाहर है। उसका

प्रत्यक्ष अनुभव मन की शान्तावस्था मे ही होता है, चित्त की वृत्तियों के निरोध से ही होता है अथवा अमनी अवस्था में ही होता है। अत: किसी भी प्रकार से उसे जान लेना ही श्रेष्ठ है। यही परब्रह्म जगत् रूप से प्रकट है तथा इसके भीतर अप्रकट रूप से स्थित है, यह कार्य रूप मे अभिव्यक्त है तथा कारण रूप में अनभिव्यक्त है, अव्यक्त है। जो इसे जान लेता है उसे श्रेष्ठ की उपलब्धि हो जाती है तथा अश्रेष्ठ, मिथ्या, छूट जाता है।

२. "जो दीप्तिमान है और जो सूक्ष्मो से भी सूक्ष्म (अणु का भी अणु) है। जिसमें समस्त लोक तथा उसमें रहने वाले प्राणी स्थित हैं, वही वह अक्षर (अविनाशी) ब्रह्म है। वही प्राण है, वही वाणी और मन है, वही यह सत्य है, वही अमृत है। हे प्यारे! वही वेधने योग्य (जानने योग्य) है, तू उसे वेध (जान)।"

व्याख्या—महर्षि अंगिरा शौनक मुनि से कहते हैं कि हे सौम्य! वही परब्रह्म देदीप्यमान है, वही सबके प्रकाश का कारण है, सब ज्योतियो की ज्योति है, अग्नि और सूर्य में भी उसी का प्रकाश है, वह अणु का भी अणु यानि सूक्ष्म का भी सूक्ष्म है। समस्त लोक तथा उनमें रहने वाले प्राणियों का अस्तित्व उसी मे है। वही एक ऐसा तत्त्व है जो नष्ट नही होता, अन्य सभी नष्ट हो जाते हैं। शरीर में जो मन, वाणी और प्राण है वह उसी ब्रह्म शक्ति से है। सृष्टि की समस्त रचना ही मन, वाक् और प्राण इन तीन शक्तियो से हुई है जिनका अधिष्ठान वह ब्रह्म ही है। अविनाशी होने से वही सत्य है अन्य सम्पूर्ण जगत् मिथ्या एवं भ्रम मात्र है किन्तु अविद्या के कारण मनुष्य को यह जगत् सत्य भासता है। असत्य को सत्य मानना ही भ्रम एवं मिथ्या दृष्टि है। यही अज्ञान एवं अविद्या है। इसलिए ऐसे सत्य, शाश्वत एवं अविनाशी परब्रह्म का ही तू वेध कर, उसे जान ले क्योंकि वही जानने योग्य है। वही अमृत है जो कभी मृत्यु को प्राप्त नही होता।

३. "उपनिषद् में वर्णित प्रणव रूप महान् अस्त्र धनुष को लेकर उस पर उपासना द्वारा तीक्ष्ण किया हुआ बाण चढ़ाये। फिर भाव रूप चित्त के द्वारा उस बाण को खींचकर हे प्रिय! उस परम अक्षर ब्रह्म को एक ही लक्ष्य मान कर वेध।"

व्याख्या—इस मन्त्र मे उस ब्रह्म की प्राप्ति की विधि बतलाई गई

है कि उसकी प्राप्ति की विधि ओ३मकार की साधना है। ओ३मकार कोई शब्द नहीं है बल्कि उस परब्रह्म सत्ता की ध्वनि है। वह परम तत्त्व जो नाम, रूप, गुण, आकार आदि से रहित है उसका कोई नाम नहीं दिया जा सकता। नाम देने से ही उसके रूप, आकार, सीमा, रंग, गुण आदि की विभिन्न कल्पनाएँ होती हैं जबकि वह इन सबसे परे है। उसे ईश्वर, परमात्मा, ब्रह्म, पुरुषोत्तम, भगवान आदि द्वारा सम्बोधित नहीं किया जा सकता इनसे उसके आकारों की कल्पना होती है जबकि वह निराकार है। लाओत्से ने इसीलिए उसे 'अनाम' कहा। उपनिषद् भी जिसे 'तत्' (वह) कहते हैं। वेदों ने भी उसे ओ३मकार कहा है। यह ओ३मकार एक ध्वनि है जो उस ब्रह्म की ओर संकेत करती है। शैव मत वाले इसी तत्त्व को 'शिव' कहते हैं तथा वेदान्ती 'ब्रह्म' कहते हैं। यही ओंकार (प्रणव) वह मूल तत्त्व भी है तथा साधना का भी माध्यम है। ओंकार की साधना से व्यक्ति उस परम इष्ट को प्राप्त हो जाता है।

इस मन्त्र में उस ब्रह्म को प्राप्त होने की विधि ओंकार ही बताई गई है कि यह प्रणव एक ऐसा महान् अस्त्र है जिसकी यदि तीक्ष्ण उपासना की जाय तथा चित्त में दृढ़ भावना लेकर यदि साधक निरन्तर आगे बढ़े तो निश्चित ही वह उस परम तत्त्व को प्राप्त कर सकता है। अन्य किसी साधन की आवश्यकता नहीं है।

४. **"ओंकार ही धनुष है, आत्मा ही बाण है, परब्रह्म ही उसका लक्ष्य कहा जाता है। प्रमाद रहित मनुष्य द्वारा ही वह वेध करने योग्य है। अतः उसे वेधने के लिए बाण की तरह तन्मय हो जाना चाहिए।"**

व्याख्या—इस मन्त्र में भी ओंकार की ही साधना की ओर बल दिया गया है कि इस आत्मा रूपी बाण से जो उपासना द्वारा तीक्ष्ण किया गया है इस ब्रह्म की प्राप्ति होती है। अर्थ यह है कि सर्व प्रथम मनुष्य को आत्म-ज्ञान प्राप्त करना पड़ेगा। व्यक्ति में जो आत्मा है वही समष्टि में ब्रह्म है किन्तु उसी समष्टिगत् ब्रह्म को बाहर नहीं पाया जा सकता। जो इसे पहले बाहर ढूंढ़ने का प्रयत्न करते हैं उनके हाथ कुछ भी नहीं लगता। उसे सर्वप्रथम ध्यान द्वारा स्वयं के भीतर ही खोजना पड़ेगा। स्वयं के भीतर वही चेतन रूप में स्थित है जिसे 'आत्मा' कहा गया है। उस आत्मा का ज्ञान होने पर ही यह ज्ञान होता है कि यह मेरे में ही नहीं बल्कि सभी में व्याप्त है। ऐसा ज्ञान ही उस ब्रह्म का ज्ञान है। इसलिए इस मन्त्र का

भावार्थ यही है कि उस आत्मा रूपी बाण से ही उस ब्रह्म को जाना जाता है। उसे सीधा जानने का अन्य कोई साधन नही है। जो पुरुष प्रमाद रहित हो इसकी सतत् धैर्यपूर्वक उपासना करते है उन्हीं को यह प्राप्त होता है। जिस प्रकार लक्ष्य को वेधने के लिए बाण सीधा एवं स्थिर करके छोड़ा जाता है उसी प्रकार तन्मय होकर साधन करने से उसकी प्राप्ति होती है। उसका मार्ग आत्मा से होकर ही जाता है।

वैज्ञानिक इसे बाहर पदार्थों में खोज रहा है, अध्यात्म, भीतर खोजने की बात कहता है। विज्ञान की खोज ऊर्जा तक पहुँची है। अध्यात्म के अनुसार यह ऊर्जा उसी चेतन की शक्ति मात्र है जो जड़ है। इसी जड़ शक्ति के भीतर वह चेतन तत्त्व छिपा है। जो इस ऊर्जा से भी अधिक सूक्ष्म है। यदि वैज्ञानिक इस ऊर्जा के भी विखण्डन में सफल हो गये तो उन्हे निश्चित ही उस चेतन तत्त्व का ज्ञान हो सकता है जिसे अध्यात्म ने ब्रह्म, परब्रह्म आदि नाम दिया है। वही एक तत्त्व इस समस्त सृष्टि का आधार है। ऐसी उपलब्धि इस विज्ञान की सबसे महत्वपूर्ण उपलब्धि होगी तथा इससे परे कोई भी तत्त्व जानने को शेष नही रहेगा। यदि ऐसी उपलब्धि हो तो यह युग, सबसे अधिक गौरवान्वित होगा तथा भारतीय अध्यात्म इससे भी अधिक गौरवान्वित होगा जबकि उसका अद्वैत सिद्धात विज्ञान की कसौटी पर खरा उतरा है जिसमें कोई शका, भ्रम, कल्पना की कोई गुंजायश नही रहेगी तथा इसके बाद भारत का मस्तक इस गौरव से कितना ऊँचा उठ जाएगा कि जिसे विज्ञान ने आज जाना है उसे भारतीय ऋषियों ने बिना ही स्थूल एवं व्ययसाध्य उपकरणो के हजारो वर्ष पूर्व ही जान लिया था। अत इस क्षेत्र मे अध्यात्म और विज्ञान दोनों को सहयोग करना चाहिए।

५. "जिसमें स्वर्ग पृथ्वी और उनके बीच का आकाश तथा समस्त प्राणो के सहित मन गुँथा हुआ है, उसी एक आत्मा को जानो। दूसरी सब बातों को सर्वथा छोड़ दो। यही अमृत का सेतु है।"

व्याख्या—वही परमात्म तत्त्व ऐसा है जो नित्य और शाश्वत है। उसी एक को जानना श्रेयस्कर है। अन्य सभी अनित्य एवं विनाश शील हैं। उनको छोड़ो। उनको जानने या पाने से कोई लाभ ही नही है। ये अन्य नावें ऐसी हैं जो स्वय ही डूबने वाली हैं। उनमे बैठकर तुम इस संसार सागर मे कैसे पार हो सकते हो। इस परमात्मा के अतिरिक्त ऐसा

कोई तत्त्व नहीं है जिसका सहारा लेकर तुम परमानन्द को प्राप्त हो सकते हो। उस ब्रह्म के साथ यह स्वर्ग, पृथ्वी उनके बीच का आकाश, प्राण और मन गुंथा हुआ है। ये उसके साथ ऐसे संयुक्त हैं कि इनके त्याग के बिना उस एक को जाना नहीं जा सकता। अतः इन सबका त्याग करके उसी एक को जानने का प्रयास करो क्योंकि वही एक ऐसा सेतु है जो अमृत है, कभी मरता नहीं, टूटता नहीं। उसी के सहारे इस भवसागर से, जन्म-मृत्यु के चक्र से पार हो सकते हो। अन्य कोई भी साधन विश्वास योग्य नहीं हैं क्योंकि वे स्वयं ही विनाशी हैं। डूबने वाले हैं, नष्ट होने वाले हैं। वे तुम्हें कैसे पार लगा सकते हैं। तुमने मिथ्या ज्ञान के कारण ही उन पर झूठा भरोसा कर रखा है। इन सब बातों को छोड़ो और उसी एक का सहारा लो अन्यथा तुम्हें डूबने से कोई नहीं बचा सकता।

ऋषि ने इस मन्त्र द्वारा अज्ञानियों को स्पष्ट चेतावनी दे दी है। ऐसी चेतावनी के देते हुए भी यदि कोई नहीं जागता है तो यह उनका दुर्भाग्य ही कहना चाहिए।

६. "रथ की नाभि में जुड़े हुए अरों की भांति जिसमें समस्त देह व्यापिनी नाड़ियाँ एकत्र स्थित हैं उसी हृदय में वह बहुत प्रकार से उत्पन्न होने वाला यह (चैतन्य) मध्य भाग में रहता है। इस आत्मा का ओउम् इस नाम से ध्यान करो। अज्ञानमय अन्धकार से अतीत, भवसागर के अन्तिम तटरूप की प्राप्ति के साधन में तुम लोगों का कल्याण हो।"

व्याख्या—इस मन्त्र में शरीर के भीतर उस परम-चैतन्य तत्त्व का स्थान बताया गया है कि शरीर में वह शक्ति का स्रोत परम चैतन्य आत्मा, हृदय के मध्य भाग में स्थित है। यही शरीर की ऊर्जा का मुख्य केन्द्र है जिसमें शरीर की सभी नाड़ियाँ इस प्रकार संयुक्त हैं जैसे किसी रथ के अरे उसकी नाभि से संयुक्त रहते हैं। इन्हीं सूक्ष्म नाड़ियों द्वारा इसी केन्द्र से समस्त शरीर को ऊर्जा मिलती है। शक्ति के इसी केन्द्र को 'आत्मा' कहा जाता है जिससे शरीर के सभी अंग विभिन्न नाड़ियों द्वारा जुड़े हुए हैं। यहाँ हृदय का अर्थ शरीरगत इस मांसल हृदय से नहीं है बल्कि शरीर का एक सूक्ष्म केन्द्र है जिसे 'हृदय' कहा गया है। साधक को इसी शक्ति केन्द्र आत्मा का 'ओउम्' इस नाम से ध्यान करना चाहिए। इस शक्ति पुंज का ध्यान करने से तुम अज्ञानरूपी अन्धकार से पार होकर ज्ञान द्वारा इस संसाररूपी भवसागर के पार हो सकते हो। यह इस भव-

सागर का अंतिम तट है। इसकी प्राप्ति हेतु यदि तुम साधना करते हो तो तुम्हारा कल्याण हो। यही ऋषि अंगिरा का आशीर्वाद है।

यहां ध्यान का ही सर्वाधिक महत्त्व बताया गया है कि उस ओउम् का निरंतर ध्यान करने से उसमें गहनता आने पर समाधि की स्थिति प्राप्त होती है तथा उसी समाधि में उस आत्म तत्त्व का ज्ञान होता है। वही ज्ञान मोक्ष प्राप्ति का कारण है जिससे इस संसार सागर से पार उतरा जा सकता है।

७. "जो सर्वज्ञ है, सब ओर से सबको जानने वाला है, जिसकी जगत् में यह महिमा है, यह सबका आत्मा दिव्य आकाश रूप ब्रह्म लोक में प्रतिष्ठित है। सबके प्राण और शरीर का नेता यह मनोमय है। हृदय कमल का आश्रय लेकर स्थूल शरीर में प्रतिष्ठित है। जो आनन्द स्वरूप अमृत (अविनाशी) परब्रह्म सर्वत्र प्रकाशित है, बुद्धिमान मनुष्य विज्ञान के द्वारा उसको भली-भांति प्रत्यक्ष कर लेते है।"

व्याख्या—इस मन्त्र मे उस परब्रह्म चैतन्य का स्थान बताया गया है कि ब्रह्म सर्वत्र व्याप्त है, सबको जानने वाला है, वह आत्म रूप से सब मनुष्य शरीरों में निवास करता है तथा दिव्य आकाश रूप ब्रह्मलोक में निवास करता है। यही चेतन तत्त्व प्राण और शरीर का संचालक है। यह व्यक्त स्वरूप मनोमय है जो प्रत्येक शरीर मे मन रूप में विद्यमान रहता है। यह शरीर के भीतर हृदय कमल का आश्रय लेकर निवास करता है। इसलिए बुद्धिमान लोग विज्ञान द्वारा इसको भली-भांति जान लेते हैं। यद्यपि यह अत्यन्त सूक्ष्म है, बुद्धि द्वारा नहीं जाना सकता, न इन्द्रियों द्वारा इसे प्रत्यक्ष देखा जा सकता है किन्तु ऐसी विधियां हैं जिनकी साधना करने पर इसका प्रत्यक्ष अनुभव किया जा सकता है। वे विधियां जिससे उसे जाना जाता है उसे 'विज्ञान' कहते है। विज्ञान के द्वारा अर्थात् विधियों के द्वारा ही ज्ञान होता है।

८. "उस कार्य कारण रूप परात्पर ब्रह्म को तत्त्व से जान लेने पर इस जीवात्मा के हृदय की गांठ खुल जाती है, सम्पूर्ण संशय कट जाते है और सभी कर्मों का क्षय हो जाता है।"

व्याख्या—यह जगत् अनित्य है, क्षण भगुर है, नाशवान् है किन्तु यह

भ्रमपूर्ण एवं मिथ्या ज्ञान के कारण सत्य एवं नित्य दिखाई देता है। इसी भ्रम के कारण व्यक्ति की भोगों की ओर ही रुचि होती है जो अन्त में दुःखों का कारण होती है। इस भ्रम का निवारण परब्रह्म के ज्ञान से ही होता है जब यह जान लिया जाता है कि वह ब्रह्म ही सत्य है, नित्य है, शाश्वत है। वही एक ऐसा तत्त्व है जो इस सृष्टि का कारण है। यह सृष्टि भ्रम से ही सत्य प्रतीत हो रही है। ऐसा अनुभव हो जाना ही ज्ञान है। ऐसा ज्ञान हो जाने पर ही जीवात्मा के हृदय की गाँठ खुल जाती है। यह गाँठ है, असत्य जगत् में अज्ञान के कारण सत्य का भ्रम हो जाना। उस परब्रह्म के तत्त्व ज्ञान से गाँठ खुल जाती है अर्थात् सभी भ्रम पूर्ण धारणाएँ समाप्त हो जाती हैं तथा सभी प्रकार के संशय मिट जाते हैं। ज्ञानी को सत्यासत्य का विवेक हो जाने से ही उसके संशय मिटते हैं, उसको समाधान मिल जाता है। यही अज्ञान ग्रन्थि का खुलना है। साथ ही अज्ञान में किये गये समस्त कर्म अपना फल देने हेतु संग्रहीत रहते हैं। उन्हीं के भोगने हेतु बार-बार जन्म ग्रहण करना पड़ता है। इस परब्रह्म के ज्ञान से इन सभी संचित कर्मों का क्षय हो जाता है जिससे अगले जन्म की संभावनाएँ ही समाप्त हो जाती हैं एवं जीव मोक्ष को प्राप्त हो जाता है। परमात्मा के ज्ञान के बिना कर्मों का क्षय नहीं होता। अत: कर्मों के क्षय के लिए ज्ञान ही एक मात्र मार्ग है। अन्य कोई मार्ग नहीं है। कर्म चाहे अच्छे हों या बुरे, दोनों ही अपना फल देते हैं। जब दोनों प्रकार के कर्म समाप्त हो जाते हैं तभी मुक्ति होती है। कर्मों से कर्मों का क्षय नहीं होता, अच्छे से बुरे कर्म कटते नहीं। दोनों का क्षय ज्ञान से होता है। यही मुक्तावस्था है जो ज्ञान से ही प्राप्त होती है। इसलिए विवेकीजन को इसी की साधना करनी चाहिए।

९. "वह निर्मल, अवयवरहित परब्रह्म हिरण्यमय (प्रकाशमय) परम कोश में विराजमान है। वह सर्वथा विशुद्ध, समस्त ज्योतियों की ज्योति है जिसको आत्मज्ञानी जानते हैं।"

व्याख्या—वह ब्रह्म निर्मल है, निर्विकार है, अवयवरहित तथा अखंड है जो हिरण्यमय-प्रकाशयुक्त कोश में विराजमान है। वह सर्वथा शुद्ध है, किसी प्रकार का विकार उसमें नहीं है। इसीलिए उसे 'परम तत्व' कहा गया है। वह सभी ज्योतिमय पदार्थों—सूर्य, सितारे, विद्युत आदि की भी ज्योति है अर्थात् इनमें प्रकाश का कारण वही परम तत्त्व है। ऐसे परब्रह्म को केवल आत्मज्ञानी ही जानते हैं। अन्य किसी साधन से वह जाना नहीं जा सकता। वह इतना सूक्ष्म है कि विज्ञान के यन्त्रों की पकड़ से भी बाहर

है इसलिए विज्ञान इसे अभी नहीं जान पाया है किन्तु ज्ञानी ने इसे जान कर इसकी व्याख्या की है।

१०. "वहाँ न तो सूर्य प्रकाशित होता है, न चन्द्रमा और तारागण ही, न ये बिजलियाँ ही चमकती हैं फिर इस अग्नि की तो बात ही क्या है क्योंकि उसके प्रकाशित होने पर ही सब उसके पीछे उसी के प्रकाश से प्रकाशित होते हैं, उसी के प्रकाश से यह सम्पूर्ण जगत् प्रकाशित होता है।"

व्याख्या—वह परब्रह्म तत्व ऐसा है जिससे हमारी पृथ्वी की अग्नि, सूर्य, चन्द्रमा, तारागण, विद्युत आदि जितनी भी प्रकाश वाली वस्तुये है वे सब उसी से प्रकाशित होती है अर्थात् यह सब प्रकाश उसकी शक्ति मात्र है। परब्रह्म में ये सभी शक्तियां शान्तावस्था में रहती हैं तब उनकी अभिव्यक्ति नही होती। ये जब अभिव्यक्त होती है तभी सूर्य, विद्युत, अग्नि, तारागण आदि के रूप में दिखाई देती है किन्तु यह उस परमशक्ति का अंशमात्र है। वह ब्रह्म इससे भी हजारो गुनी शक्ति अपने भीतर छिपाये हुए है अतः इनका वहाँ प्रकाश ही नहीं होता। यह सम्पूर्ण जगत् उसी के प्रकाश से प्रकाशित हो रहा है किन्तु उसकी इस अनन्त ऊर्जा भण्डार का क्षय या कमी ही नही हो रही है, ऐसा ऊर्जा का महान सागर है। यही मन्त्र गीता मे भी इसी प्रकार से दिया है—

न तद्भासयते सूर्यो, न शशांको न पावक।
यद्गत्वा न निवर्तन्ते तद्धाम परमं मम॥
[गीता १५/६]

(यही मन्त्र श्वेताश्वतर उपनिषद ६/१४ मे भी है)

११. "यह अमृत स्वरूप परब्रह्म ही सामने है, ब्रह्म ही पीछे है, ब्रह्म ही दाँये तथा बाँये है, नीचे और ऊपर भी फैला है। यह जो सम्पूर्ण जगत हैं यह सर्वश्रेष्ठ ब्रह्म ही है।"

व्याख्या—वह परब्रह्म अमृत स्वरूप है (अविनाशी है।) वही चारो ओर व्याप्त है अर्थात वही सम्पूर्ण सत्ता है। उससे भिन्न किसी का भी अस्तित्व नही है। इस सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड मे ऐसा कोई स्थान नही जहाँ वह न हो तथा उससे भिन्न सृष्टि का एक भी अणु नही है। यही उसकी सर्वव्यापकता है तथा इस सम्पूर्ण जगत में ब्रह्म नही है बल्कि यह सम्पूर्ण जगत ही ब्रह्म है तथा ब्रह्म ही जगत रूप में अभिव्यक्त हुआ है। वेदान्त दर्शन

का यही सर्वोपरि सत्य है जिसकी महर्षि अंगिरा ने शौनक मुनि के सामने व्याख्या की है। यह जो कुछ भी सृष्टि में दिखाई दे रहा है ज्ञानी की दृष्टि में वह ब्रह्म ही है जबकि अज्ञानी इसे भिन्न-भिन्न नामों से पुकारते हैं। यह जगत ऐसा है जैसे स्वर्ण के आभूषण। अज्ञानी को भिन्न-भिन्न आभूषण ही दिखाई देते हैं जबकि स्वर्णकार उनमें स्वर्ण ही देखता है। ऐसी ही अज्ञानी एवं ज्ञानी की दृष्टि है।

—o—

॥ द्वितीय खण्ड समाप्त ॥२॥

॥ द्वितीय मुण्डक समाप्त ॥२॥

—o—

तृतीय मुण्डक

(अ) प्रथम खण्ड—

१. "एक साथ रहने वाले तथा परस्पर सखाभाव रखने वाले दो पक्षी (जीवात्मा और परमात्मा) एक ही वृक्ष (शरीर) का आश्रय लेकर रहते हैं। इन दोनों में से एक तो उस वृक्ष के फलों को (भोगों का) स्वाद लेकर उपभोग करता है और दूसरा न खाता हुआ केवल देखता रहता है।"

व्याख्या—इस मन्त्र में शरीर की उपमा वृक्ष से देते हुए बताया है कि इस शरीर में पक्षी रूप से दो प्रकार की आत्माएँ रहती हैं। एक वह जीवात्मा है जो भोग प्राप्ति हेतु इस शरीर में प्रविष्ठ होती है। वही भोगों को भोगती है, उनका स्वाद लेती है तथा वही मृत्यु के उपरान्त उस शरीर को छोड़कर वासना के कारण अन्य शरीर धारण करती है। वही जीवात्मा अहंकार, वासना, आसक्ति, मोह, ममता, राग, द्वेष आदि के कारण कर्म करती है तथा उनके फलों का भोग भी करती है। इनके फलों का भोग करने हेतु ही इसको बार-बार जन्म एवं मृत्यु के चक्र से गुजरना पड़ता है।

दूसरा पक्षी वह परब्रह्म है जो सर्वत्र व्याप्त होने से शरीर में भी विद्यमान है। सृष्टि मे ऐसा कोई स्थान नही जहाँ वह न हो। वह पत्थर, वनस्पति, पशु-पक्षी, मनुष्य सब में विद्यमान है। किन्तु वह न कर्ता है न भोक्ता। वह भोगो में रस नही लेता, न कर्मों का कर्ता ही है क्योंकि उसमे अहकार नही है, वासना, आसक्ति नही है। वह निर्लेप है। किसी से लिप्त होता ही नही। वह दृष्टा मात्र है। मनुष्य अच्छा-बुरा जो भी करता है वह केवल जीवात्मा का ही कार्य है, स्वर्ग-नरक भी वही जाता है, दण्ड-पुरस्कार भी वही भोगता है, सुख-दु ख की प्रतीति भी उसी को होती है उस परब्रह्म को नही होती। वही परब्रह्म शरीर मे 'आत्मा' नाम से पुकारा जाता है। आत्मा और परमात्मा एक ही तत्त्व है। उस परमात्मा मे वह भिन्न नही है किन्तु अहकार एव वासना के कारण यह जीवात्मा भिन्न प्रकार से कार्य करता है। यह जीवात्मा जब इन विकारों का त्याग कर देता है तो वह भी परमात्मा हो हो जाता है। सम्पूर्ण भेद मिट जाते है। जन्म के समय यही जीवात्मा शरीर में प्रवेश करती है तथा मृत्यु के समय यही निकाल कर जाती है। जीवात्मा तथा परमात्मा के भेद को बडे अच्छे ढंग से इस उदाहरण द्वारा ऋषि ने स्पष्ट किया है।

२. **"पूर्वोक्त शरीर रूपी समान वृक्ष पर रहने वाला जीवात्मा आसक्ति में डूबा हुआ है, असमर्थता रूप दीनता का अनुभव करता है, मोहित होकर शोक करता रहता है। जब कभी यह अपने से भिन्न उस सेवित ईश्वर को, उसकी महिमा को यह प्रत्यक्ष कर लेता है तब वह शोक रहित हो जाता है।"**

व्याख्या—इस शरीर मे स्थित यह जीवात्मा आसक्ति मे डूबा रहता है। इसी आसक्ति के कारण यद्यपि यह भोगो का भोग करता है किन्तु उस परम स्वरूप, शांत, सर्वशक्तिमय उस ईश्वर की ओर जब यह देखता है तो अपनी असमर्थता एवं दीनता का अनुभव करता हे। क्योंकि जीवात्मा को आखिर यह अनुभव होता है कि ये समस्त भोग आनन्द नही दे सकते वरन् दुखो का ही कारण होते है तथा इन्ही में रुचि रखने से ही निरन्तर जन्म-मृत्यु, बुढापा आदि का दु ख भोगना ही पडता है। उसे जब ऐसा अनुभव होने लगता है तो उसे इन भोगो के प्रति वैराग्य हो जाता है तथा वह बडी दीनता का अनुभव करता है। आसक्ति के कारण ही वह मोह को प्राप्त होकर निरन्तर शोक करता रहता है। उसके इस आसक्ति, मोह शोक, दीनता का अन्त तभी होता है जब वह इस आत्म स्वरूप ईश्वर को तथा उसकी महिमा को प्रत्यक्ष कर लेता है अर्थात उसकी प्रत्यक्ष अनुभूति

उसे हो जाती है। इस अनुभूति से ही वह आसक्ति, मोह आदि से मुक्त होकर स्वयं दृष्टा रूप परमेश्वर ही हो जाता है। सभी उसे परमानन्द की प्राप्ति होती है।

इसका तात्पर्य यही है कि परब्रह्म परमात्मा के प्रत्यक्ष अनुभव से ही यह जीवात्मा अपने कर्म बन्धनों, आसक्ति आदि से मुक्त हो जाता है। अन्य कोई उपाय उसे इन वासनाओं से मुक्त नहीं करा सकते। अतःसाधक को उसी का प्रत्यक्ष अनुभव प्राप्त करने का प्रयत्न करना चाहिए।

३. **"जब यह जीवात्मा इस दृष्टा, सबके शासक, ब्रह्मा के भी आदि कारण, सम्पूर्ण जगत् के रचयिता, दिव्य प्रकाश रूप, परम पुरुष को प्रत्यक्ष कर लेता है उस समय पुण्य-पाप दोनों को भली भाँति हटाकर निर्मल हुआ वह ज्ञानी महात्मा सर्वोत्तम समता को प्राप्त कर लेता है।"**

व्याख्या—वह जीवात्मा उस दृष्टा परब्रह्म के दर्शन का इच्छुक रहता है किन्तु अज्ञान के आवरण से वह उसे नहीं देख सकता, उसके परम स्वरूप को नहीं जान सकता। इसी अज्ञान के कारण वह भोगों में ही रुचि लेता है। किन्तु जब उसे उस परब्रह्म का ज्ञान हो जाता है जो सबका शासक है, जो ब्रह्मा का भी आदि कारण है, सम्पूर्ण जगत् की रचना करने वाला है, दिव्य स्वरूप है तथा परम पुरुष है तो उसके सभी प्रकार के शुभ-अशुभ, पाप-पुण्य आदि कर्मों का क्षय हो जाता है जिससे उसका चित्त अत्यन्त निर्मल हो जाता है। जीवात्मा के लिए पाप यदि बन्धन है तो पुण्य भी बंधन है। स्वर्ग की कामना से व्यक्ति पापों का क्षय करके पुण्य का संग्रह करता है किन्तु मुक्ति का अभिलाषी इन दोनों का ही क्षय करके निर्भार हो जाता है, निर्मल चित्त वाला हो जाता है। ऐसा उस परमात्मा (आत्मा) के प्रत्यक्ष ज्ञान से ही होता है। ऐसा ज्ञान जिसको हो गया है वह ज्ञानी महात्मा सर्वोत्तम समता को प्राप्त होता है। उसका मन चंचलता छोड़कर पूर्णतया शांत होता है। यही उसकी परम गति है।

उस आत्मा का प्रत्यक्ष ज्ञान होने पर ही जीवात्मा के हृदय की गाँठ खुलती है जिससे वह भोगों से मुक्त होकर ब्रह्ममय ही हो जाता है।

४. **"यह (परमेश्वर) ही प्राण है जो सब प्राणियों के द्वारा प्रकाशित हो रहा है, इसको जानने वाला ज्ञानी अतिवादी नहीं होता किन्तु वह स्वभावगत कर्म करता हुआ अपनी**

आत्मा रूपी परमेश्वर में ही क्रीड़ा करता रहता है और उसी आत्मा में रमण करता रहता है। ऐसा ज्ञानी ब्रह्म वेत्ताओं में भी श्रेष्ठ है।"

व्याख्या—इस शरीर का संचालन करने वाला प्राण है जो समस्त इन्द्रियों को संचालित करता है। वह ब्रह्म ही प्राण रूप से शरीर का संचालन कर रहा है। जो इस प्राण रूपी ईश्वर को जान लेता है वही ज्ञानी है। ऐसा ज्ञानी अतिवादी नही होता। वह अहंकार युक्त बढ़-चढ़कर बातें नही करता बल्कि स्वभावगत निरन्तर कर्म करता रहता है। न वह कर्मों का त्याग करता है, न कामना, वासना एव अहंकार युक्त कर्म करता है। उसमे आसक्ति नही होती। इसलिए वह कर्म फल का भोक्ता भी नही होता। वह अपनी आत्मा के स्वभाव के अनुसार कर्म करता हुआ उसी में नित्य रमण करता है। ऐसा ज्ञानी सभी ब्रह्मवेत्ताओं (पंडितो) मे श्रेष्ठ है क्योकि उसका प्रत्यक्ष दर्शन ही परम उपलब्धि है।

५. **"यह शरीर के भीतर ही प्रकाशरूप, परम विशुद्ध, आत्मा नि संदेह सत्य भाषण से, तप से, ब्रह्मचर्य से, यथार्थ ज्ञान से सदा प्राप्त होने वाला है जिसे सब प्रकार के दोषों से रहित हुए यत्नशील साधक ही देख पाते हैं।"**

व्याख्या—शरीर के भीतर ही स्थित यह आत्मा रूपी परमात्मा जो प्रकाश युक्त तथा परम विशुद्ध है उसे प्राप्त करने की विधि सदाचरण है। सत्य भाषण, तप तथा ब्रह्मभाव में निरन्तर रत रहने से साधक का अन्त. करण शुद्ध होकर वह उसका यथार्थ ज्ञान प्राप्त कर सकता है। जो साधक सम्पूर्ण सांसारिक दोषों से रहित होकर यत्न पूर्वक निरन्तर उसके ध्यान में लीन रहते है वह निश्चित ही उसे प्राप्त कर लेता है (प्रत्यक्ष अनुभव कर लेता है।) जो आत्मज्ञान की इच्छा न रखकर भोगो की ही इच्छा रखते है उन्हें भोग ही प्राप्त होते है। परमात्म ज्ञान से वे वंचित ही रहते हैं।

६. **"सत्य ही विजयी होता है, झूठ नहीं। क्योंकि वह देवयान नामक मार्ग सत्य से परिपूर्ण है जिससे पूर्णकाम ऋषि लोग गमन करते हैं जहाँ वह सत्य स्वरूप परब्रह्म परमात्मा का परम धाम है।"**

व्याख्या—वह परब्रह्म ही सत्य है अन्य सभी असत्य, मिथ्या है क्योंकि वे नाशवान है। उस सत्य स्वरूप परमात्मा की प्राप्ति का मार्ग

भी सत्य ही है। जो इस सत्य, सदाचरण रूप मार्ग से चलता है वही उस सत्य स्वरूप परमात्मा को प्राप्त करता है। असत्य मार्ग पर चलने वाला, उसे कभी प्राप्त नहीं कर सकता। झूठ, चोरी, बेईमानी, भोगों में आसक्ति रखने वाला व्यक्ति असत्य मार्ग पर चल रहा है। उसे इस सत्य की उपलब्धि नहीं हो सकती। परमात्मा पूर्ण काम है। क्षुद्र कामना वाले को वह प्राप्त नहीं होता। यह असत्य मार्ग है जिससे सत्य प्राप्त नहीं किया जा सकता। सत्य मार्ग पर चलने वाले की ही अन्तिम विजय होती है, क्योंकि वही इस सत्य को प्राप्त होता है। यही देवयान मार्ग है। जो ऋषि क्षुद्र कामनाओं, वासनाओं का त्याग करके पूर्ण काम हो चुके हैं, वे ही इस सत्य मार्ग पर चलने हैं। संसार की वासना से ग्रस्त कामी मनुष्य इस मार्ग पर चल भी नहीं सकते। इसलिए यह मार्ग तलवार की धार के समान कठिन भी है। इस प्रकार सत्य मार्ग पर चल कर ही वह उस परब्रह्म को प्राप्त होता है। यह सत्य धाम ही उसका परम धाम है।

उस सत्य स्वरूप परब्रह्म को प्राप्त करने का मार्ग सत्य पालन, एवं सदाचरण का मार्ग है। इस पर चल कर ही उस परम धाम की उपलब्धि होती है। संसार के मार्ग पर चल कर नहीं, क्योंकि यह असत्य का मार्ग है।

७. "वह परब्रह्म महान, दिव्य और अचिन्त्य स्वरूप है, तथा वह सूक्ष्म से भी सूक्ष्म रूप में प्रकाशित होता है, वह दूर से भी अत्यन्त दूर है और इस शरीर में रहने से अति समीप भी है। यहाँ देखने वालों के भीतर ही उनके हृदय रूपी गुफा में स्थित है।"

व्याख्या—इसमें परब्रह्म के स्वरूप एवं स्थान का वर्णन किया गया है कि वह महान है, दिव्य है, चिन्तन से भी परे है, सूक्ष्म से भी सूक्ष्म (अति सूक्ष्म) रूप से ही प्रकाशित होता है। वह उन व्यक्तियों से भी दूर है जो संसार रूपी असत्य मार्ग पर चलते हैं, भोगों में आसक्त हैं, अहंकार से युक्त हैं, क्षुद्र की वासना में ही ग्रस्त हैं। इनको हजारों जन्मों में भी उपलब्ध नहीं हो सकता। दूसरी ओर वह इतना समीप है कि स्वयं के भीतर ही हृदय रूपी गुफा में स्थित है। उसे कहीं मंदिर, मस्जिद, गुरुद्वारे में नहीं ढूंढ़ना है, न हिमालय जाने से मिलता है। स्वयं के भीतर ही स्थित होने से उसे सत्य एवं सदाचरण के मार्ग पर चल कर प्राप्त किया जा सकता है।

८. "वह आत्मा न तो नेत्रों से, न वाणी से, और न दूसरी इंद्रियों से ही ग्रहण करने में आता है तथा तप से अथवा कर्मों से भी प्राप्त नहीं होता। उस अवयव रहित को तो विशुद्ध अन्त-करण वाला ही उसे निरन्तर ध्यान करता हुआ ही ज्ञान रूपी प्रसाद से ही देख पाता है।"

व्याख्या—शरीर में आत्मा रूप से स्थित वह ब्रह्म इंद्रियो द्वारा ग्राह्य नही है क्योंकि वह अति सूक्ष्म होने से इद्रियाँ उन्हे ग्रहण नही कर सकती। यह इद्रियो का विषय ही नहीं है जिससे इंद्रियो द्वारा उसे जानने का आग्रह ही छोड़ देना चाहिए। वह तप से भी प्राप्त नही होता क्योंकि तप से मन एवं अहकार दृढ हो जाता है तथा इससे कई प्रकार की सिद्धियाँ प्राप्त हो जाती है जो उसकी प्राप्ति मे बाधक बन जाती है। वह कर्मो से से भी प्राप्त नहीं होता क्योकि अज्ञानी के सभी कर्म अहकार एव आसक्ति से ही किये जाते है जिनका फल अवश्य होता है। जब तक शुभ और अशुभ कर्मों का पूर्ण क्षय नही होता तब तक मुक्ति नहीं होती किन्तु कर्मो से कर्मो का क्षय नही किया जा सकता। यह असभव कृत्य है। यह परब्रह्म अवयव रहित है। शुद्ध अन्त.करण में ही उसका प्रकाश होता है। जिस प्रकार स्वच्छ दर्पण मे ही स्पष्ट आकृति दिखाई देती है, जिस प्रकार शांत जल में ही चद्रमा का स्पष्ट बिम्ब दिखाई देता है, उसी प्रकार सदाचार से शुद्ध किये हुए अन्त करण मे ही निरतर ध्यान से ज्ञान रूपी प्रसाद की उपलब्धि होती है तथा उसी ज्ञान से उसकी अनुभूति होती है। अत. उसकी प्राप्ति के लिए निरंतर ध्यान एवं शुद्ध अन्तःकरण की आवश्यकता है।

९. "जिसमें पाँच भेदों वाला प्राण भली-भाँति प्रविष्ठ है उसी शरीर में यह सूक्ष्म आत्मा मन से जानने में आने वाला है। प्राणियो का यह सम्पूर्ण चित्त प्राणों से व्याप्त है, इसके विशुद्ध होने पर यह आत्मा सब प्रकार से समर्थ होता है।"

व्याख्या—शरीर की समस्त चेष्टाएँ प्राणो द्वारा होती है। यह प्राण पाँच स्थानो पर व्याप्त होकर प्राण, अपान, समान, व्यान और उदान रूप से समस्त अगों की चेष्टाओ का कारण होता है। उसी शरीर मे यह सूक्ष्म आत्मा भी रहता है जिसे मन के द्वारा ही जाना जाता है। सर्व प्रथम मन को ही इसकी परोक्ष अनुभूति होती है जिसे सावरण दर्शन कहते है। इसके बाद मन के सर्वथा विलीन हो जाने पर वह एक ही तत्त्व आत्मा शेष रह जाता है। यही जीव की सर्वोच्च स्थिति है। शाट्यायनीयोपनिषद् मे कहा

है 'मन एव मनुष्याणां कारणं वन्ध मोक्षयो' [यह मन ही मनुष्य के बंधन और मोक्ष का कारण है। मन जब विषयों की ओर होता है तो बंधन का कारण होता है तथा वही जब परमात्मा की ओर हो जाता है तो मुक्ति का कारण बन जाता है। अतः शुद्ध अन्तःकरण में सर्व प्रथम उसे मन द्वारा ही जाना जाता है तथा उसे जान लेने पर वही आत्मा सब प्रकार से समर्थ हो जाता है। अज्ञानी का मन ही सब प्रकार से समर्थ है। भोगों की कामना से यह मन भोगों को प्राप्त करता है।

१०. **"विशुद्ध अन्तःकरण वाला मनुष्य जिस-जिस लोक का मन में चिन्तन करता है तथा जिन भोगों की कामना करता है, उन-उन लोकों को जीत लेता है और उन भोगों को भी प्राप्त कर लेता है। इसलिए ऐश्वर्य की कामना वाला मनुष्य आत्मा को जानने वाले महात्मा की सेवा पूजा करे।"**

व्याख्या---शुद्ध चित्त जिस प्रकार की भावना करता है वह उसी को प्राप्त कर लेता है। अशुद्ध चित्त की कामनाएँ पूर्ण नहीं होतीं। इसलिए संसारी (अज्ञानी) के लिए कर्म का ही विधान है तथा उसका उसी में अधिकार है, उसके फल ईश्वराधीन हैं। ईश्वरीय नियमों के अन्तर्गत जिस प्रकार के फल का वह भागी है वही उसे मिलता है किन्तु शुद्ध अन्तःकरण वाला जैसी भावना, कामना करता है वह अवश्य पूरी हो जाती है। यदि वह लोकों की कामना करता है तो वही लोक उसे प्राप्त हो जाता है, यदि वह भोगों की कामना करता है तो वह उन भोगों को प्राप्त कर लेता है। इसलिए ऐसा व्यक्ति जिसका अन्तःकरण शुद्ध हो गया है उसे ऐश्वर्य प्राप्ति के लिए (आत्मज्ञान की प्राप्ति हेतु) भोगों की कामना छोड़कर आत्मज्ञान प्राप्ति की ही कामना करनी चाहिए तथा इसके लिए उसे ऐसे गुरु की आवश्यकता होती है जो स्वयं आत्म ज्ञानी महात्मा है। इस आत्मज्ञान की अन्तिम उपलब्धि में गुरु की अनिवार्यता है। अतः ऐसी साधक को अहंकार का विसर्जन करके ऐसे महात्मा गुरु की सेवा पूजा करनी चाहिए जिससे वह उसे तत्त्व बोध करा सके।

साधक के लिए आरम्भ एवं अन्त में गुरु की अनिवार्यता स्वीकार की गई है। आरम्भ में विधि पूर्वक साधना के लिए उसकी अनिवार्यता है तथा अन्त में आत्म बोध भी वही कराता है। गुरु के बिना वह भटक ही जाता है। यह ज्ञान पुस्तकों के पढ़ने से प्राप्त नहीं होता। गुरु ही इसका एक मात्र माध्यम है।

॥ प्रथम खण्ड समाप्त ॥

(ब) द्वितीय खण्ड

१. "जो इस परम विशुद्ध ब्रह्म धाम को जान लेता है जिसमें सम्पूर्ण जगत् स्थित हुआ प्रतीत होता है। जो कोई भी निष्काम साधक इस पुरुष (ब्रह्म) की उपासना करते है वे बुद्धिमान रजोवीर्य मय इस शरीर का अतिक्रमण कर जाते हैं।"

व्याख्या—यह शरीर रज-वीर्य से उत्पन्न है अर्थात् माँ-वाप के संयोग से इस भौतिक शरीर का ही निर्माण होता है तथा वासना के कारण भोग प्राप्ति हेतु यह जीवात्मा घर की भाँति इसका उपयोग करती है क्योंकि विना शरीर के भोग सभव नही है। जब तक भोगो की वासना है तव तक यह जीवात्मा निरन्तर शरीर वदलती ही रहती है अर्थात् इस जन्म-मृत्यु का चक्र चलता ही रहता है। इसका अन्त तभी होता है जब उस परम विशुद्ध ब्रह्म को जान लिया जाय क्योंकि उसे जान लेने पर यह प्रतीति हो जाती है कि यही परम सत्ता है जिसमे सम्पूर्ण जगत् स्थित है तथा इस जीवात्मा का मुख्य स्थान यह शरीर नही बल्कि यह ब्रह्म है जहाँ जाकर इसे शाँति का अनुभव होता है। न इस शरीर से उसे शान्ति मिलती है न भोगो से। उस परम के ज्ञान के अभाव मे ही यह शरीर और भोगो से आसक्त रहता है। जब उस उच्च का भोग उसे प्राप्त हो जाता है जो शाश्वत है तो इन क्षण भगुर भोगो में कौन रुचि लेता है, महल मिल जाने पर झोंपडे में रहना कौन पसन्द करेगा। इसलिए उस परब्रह्म के धाम की उपलब्धि हो जाने पर जीवात्मा इस शरीर का अतिक्रमण कर जाता है।

इसके प्राप्त करने का साधन संसारी मनुष्य के लिए एक मात्र साधन निष्काम कर्म है। क्योंकि कर्मों का त्याग असम्भव है। गीता मे भी कहा है कि चाहे ज्ञानी हो या अज्ञानी कर्मो का त्याग नही किया जा सकता किन्तु सकाम कर्म ही जन्म-मृत्यु का कारण बनते है क्योंकि उसमे वासना रहती है। अतः आत्मज्ञान की प्राप्ति हेतु तथा कर्मों का सचय रोकने के लिए निष्काम कर्म ही एक मात्र मार्ग है। भगवान् कृष्ण ने गीता में यही उपदेश अर्जुन को विस्तार से दिया है। भोगों की आसक्ति के त्याग बिना उस आत्मा का ज्ञान नही हो सकता अतः इसका त्याग एवं निष्काम कर्म करने वाला इस धाम को प्राप्त कर लेता है। सार वस्तु की

प्राप्ति करना एवं असार का त्याग करने वाला ही बुद्धिमान कहा जाता है।

२. "जो भोगों को (कामनाओं को) आदर देने वाला मानव उन्हीं की कामना करता है वह उन कामनाओं के कारण उन-उन स्थानों में उत्पन्न होता है जहाँ उनकी पूर्ति हो सके। परन्तु जो पूर्ण काम हो चुका है उस विशुद्ध अन्तःकरण वाले पुरुष की सम्पूर्ण कामनाएँ यहीं सर्वथा विलीन हो जाती हैं।"

व्याख्या—मनुष्य का मन जिस प्रकार की कामना करता है उसी के लिए वह प्रयत्नशील होकर उसको अवश्य प्राप्त कर लेता है। इसी प्रकार उसके अन्तःकरण में जिस प्रकार की कामना होती है उसी कामना की पूर्ति हेतु जैसा वातावरण अथवा शरीर उसके उपयुक्त होता है उसी वातावरण एवं शरीर में उसका जन्म होता है। पुनर्जन्म के पीछे यही आध्यात्म का सिद्धान्त है। कामना, वासना है इसलिए उनकी पूर्ति हेतु शरीर की आवश्यकता होती है अन्यथा शरीर धारण का कोई प्रयोजन ही नहीं है। किन्तु जब व्यक्ति की सम्पूर्ण सांसारिक भोग सम्बन्धी कामनाएँ समाप्त हो जाती हैं तथा कामनाओं के नहीं रहने के कारण ही उसका अन्तःकरण शुद्ध होता है इसलिए ऐसे शुद्ध अन्तःकरण वाले की समस्त कामनाएँ विलीन हो जाने से उसका पुनर्जन्म नहीं होता। वह पूर्ण काम हो चुका है। क्षुद्र की कामना से मुक्त होना ही मुक्ति है।

३. "यह आत्मा न तो प्रवचन से, न बुद्धि से और न बहुत सुनने से ही प्राप्त हो सकता है। यह जिसको स्वीकार कर लेता है उसके द्वारा ही प्राप्त किया जा सकता है क्योंकि यह आत्मा (परमात्मा) उसके लिए अपने यथार्थ स्वरूप को प्रकट कर देता है।"

व्याख्या—यह आत्मा जड़ नहीं, चेतन है। इसे जड़ की भाँति किसी विशेष क्रिया द्वारा प्राप्त नहीं किया जा सकता। यह न तो आत्मा पर अच्छा प्रवचन देने से प्राप्त होती है न किसी का अच्छा प्रवचन सुनने से। यह बुद्धि द्वारा भी प्राप्त नहीं होती। क्योंकि यह मनुष्य के अधीन नहीं है, मनुष्य ही इसके अधीन है, यह मनुष्य के बनाये गये नियमों से नहीं चलती, मनुष्य ही इसके नियमों के अनुसार चलता है। यदि यह नहीं चाहे तो

मनुष्य के सैकड़ों जन्मो तक यज्ञ, हवन, तप, ध्यान, समाधि, हठयोग, उपासना आदि सभी कर्म करने पर भी प्राप्त नहीं होती तथा यह जिस व्यक्ति को स्वीकार कर लेती है उसको बिना ही किसी साधन के स्वय ही प्रत्यक्ष हो जाती है। इसके लिए कुछ भी बाधक नहीं है। यह भक्तो की एक ही पुकार पर प्रकट हो जाता है। यह भक्तो की एक ही पुकार पर प्रकट हो जाता है व तपस्वियो तथा योगियों के पूरे जन्म साधना करने पर भी प्रकट नहीं होता। इसका अर्थ यही है कि वह किसी साधना से प्राप्त नहीं होता बल्कि ये सभी साधन उसकी पात्रता देते है तथा पात्रता आने पर वह उस व्यक्ति को स्वय स्वीकार कर लेतो है तभी उसका यथार्थ स्वरूप प्रकट होता है। इसमें सबसे बड़ी पात्रता, अहकार त्याग से आती है। यही एक मात्र पात्रता है जिसके प्राप्त होने पर वह परमात्मा उसको स्वयं स्वीकार कर लेता है। अहकार के रहते वह प्रकट होती ही नहीं। अहकार और परमात्मा एक साथ नही रह सकते जैसे अन्धकार और प्रकाश एक साथ नही रह सकते। 'प्रेम गली अति साँकरी, या मे दो न समाय।' इसलिए सब साधन करके भी यदि अहकार बना रहा तो वह प्रकट नही होता किन्तु अहंकार गिरने पर पूर्ण समर्पण से यह उसी समय प्रकट हो जाता है। जिनको भी उपलब्ध हुआ है उन्हे इसी स्थिति को प्राप्त करने पर हुआ है। इसका मुख्य भाव यही है कि वह प्रयास से प्राप्त नही होता बल्कि प्रसाद रूप मे मिलता है। उसकी जिस पर अनुकम्पा होती है उसी को प्राप्त होता है। जो यह दावा करता है कि मैंने इतना तप किया, इतने उपवास किये, नग्न रहा, जटा बढाई, तिलक छापे लगाये, नित्य मदिर में पूजा की, गायत्री का अनुष्ठान किया, मुझे तो प्राप्त हो ही जाना चाहिए किन्तु इस मत्र मे ऋषि कहता है कि वह इन कर्मो से बधा नही है कि प्रकट हो ही जाय। उसका प्रकट होना या न होना उसकी मर्जी पर है। यदि उसने साधक को स्वीकार कर लिया तो प्रकट होता है अन्यथा नही। (यह मत्र कठोपनिषद् १/२/२३ में भी इसी प्रकार से है।)

४. **"यह आत्मा बलहीन मनुष्य द्वारा प्राप्त नहीं किया जा सकता तथा प्रमाद से अथवा लक्षण रहित तप से भी प्राप्त नहीं किया जा सकता। किन्तु जो बुद्धिमान् इन उपायों के द्वारा प्रयत्न करता है उसका यह आत्मा ब्रह्मधाम में प्रविष्ठ हो जाता है।"**

व्याख्या—पूर्व मंत्र में कहा गया है कि वह प्रवचन देने, सुनने तथा बुद्धि आदि साधनों से प्राप्त नहीं होता बल्कि उसकी जिसपर कृपा होती है उसी के सामने प्रकट होता है किन्तु इस मंत्र में बताया गया है कि वह परमात्मा बलहीन, प्रमादी, आलसी, अकर्मण्य, पुरुषार्थ हीन व्यक्ति को भी प्राप्त नहीं होता तथा ऐसे तप से भी प्राप्त नहीं होता जिसमें सात्त्विक लक्षण नहीं है। जो अहंकार का पोषण करते हुए तप करता है उसे भी प्राप्त नहीं होता बल्कि उसकी प्राप्ति के लिए प्रमाद तथा आलस्य का त्याग करके परम पुरुषार्थ करना ही पड़ेगा। अहंकार रहित कर्म, तप एवं अनुष्ठान से वह प्राप्त होता है। इसलिए न कर्मों का त्याग करना है न पुरुषार्थ का, बल्कि अहंकार का ही त्याग करना है। समाधि में चित्त की शून्यावस्था में भी उसकी कृपा की प्रतीक्षा करनी पड़ेगी जिससे वह प्रसाद रूप में ही प्रकट होता है। इसका भाव यही है कि प्रयत्न पूर्वक साधना एवं अहंकार त्याग से ही उसके लिए उपयुक्त स्थान बनता है जिससे उसके प्रकट होने के लिए अनुकूल परिस्थितियाँ बनती है किन्तु उसका प्रकट होना फिर भी उसी की मर्जी पर है। जैसे घर में किसी बड़े महमान के आगमन के लिए उसकी पूरी तैयारियाँ की जाती हैं, उसके बैठने आदि का स्थान नियत किया जाता है किन्तु महमान का आना उसी की मर्जी पर निर्भर है ऐसा ही चित्त शुद्धि द्वारा केवल परमात्मा के लिए स्थान बनाया जाता है। यही पुरुषार्थ है। किन्तु उसका आना फिर भी उसकी मर्जी पर निर्भर है। किन्तु जब स्थान ही नहीं बनाया गया तो उसके आने की संभावना ही समाप्त हो जाती है। ऐसा ही इन दोनों मन्त्रों का भाव है।

५. "सर्वथा आसक्ति रहित, विशुद्ध अन्तःकरण वाले ऋषि लोग इस परमात्मा को पूर्णतया प्राप्त होकर ज्ञान से तृप्त एवं परम शान्त हो जाते हैं। अपने आपको परमात्मा में संयुक्त कर देने वाले वे ज्ञानी जन सर्वव्यापी परमात्मा को सब प्रकार से प्राप्त करके सर्वरूप परमात्मा में ही प्रविष्ठ हो जाते हैं।"

व्याख्या—शान्त वही होते हैं जो विशुद्ध अन्तःकरण वाले हैं। जिनका मन सदा राग-द्वेष, ईर्ष्या, घृणा, अहंकार, मोह, परिग्रह, आसक्ति, कामना, वासना आदि में उलझा रहता है वे कभी शांत नहीं हो सकते। उनका मन इन्हीं उपद्रवों का अखाड़ा बना रहता है जिसमें निरन्तर उखाड़-पछाड़, दांव-पेच ही चलते रहते हैं। ऐसे व्यक्ति जाग्रत में तो

अशांत रहते ही है नीद मे भी उपद्रव ग्रस्त रहने से बडबडाते रहते हैं। उन्हें न जीते जी शाँति का अनुभव होता है न मरने पर ही। मरने के बाद प्रेत बनकर वे उपद्रवों में ही जीते है तथा इन्ही कारणों से पुनर्जन्म पाकर और दु.खी रहते हैं। जिन्हें इन सब दु.खो का कारण ज्ञात हो गया है वे परम ज्ञानी पूर्णतया आसक्ति रहित होकर, विशुद्ध अन्तःकरण वाले होकर परम सुख का अनुभव करते है। वे परमात्मा के ज्ञान को प्राप्त करके निरन्तर उसी मे तृप्त रहते है। ज्ञानी ही तृप्त, संतुष्ट एवं शान्त होकर उस परमानन्द का भोग करता है जबकि अज्ञानी निरन्तर अशांत एवं पीड़ित ही रहता है। ऐसे ज्ञानी उस परमात्मा मे ही लीन रहते है जिससे उनके समस्त दुःखों का अन्त हो जाता है।

६. "जिन्होंने वेदान्त के विज्ञान के अनुसार उसके अर्थभूत परमात्मा को पूर्ण निश्चय पूर्वक जान लिया है तथा कर्मफल और आसक्ति के त्याग रूप संन्यास योग से जिनका अन्त करण शुद्ध हो गया है वे समस्त प्रयत्नशील साधकगण मरण काल में शरीर त्याग कर ब्रह्मलोक में जाकर परम अमृत स्वरूप होकर सर्वथा मुक्त हो जाते है।"

व्याख्या—वेदान्त शास्त्र इस ब्रह्म विद्या का प्रामाणिक शास्त्र है जिसमें ब्रह्म, जगत्, इसी रचना तथा मोक्ष प्राप्ति के उपायों का तर्क सगत विवरण है। उपनिषद्, योग-वाशिष्ठ, आदि भी उसी की व्याख्या करते है। इस वेदान्त शास्त्र का प्रामाणिक ग्रन्थ 'ब्रह्मसूत्र' है। इनमें जिस प्रकार की व्याख्या ब्रह्म के लिए की गई है वही एक चेतन तत्व है जो सृष्टि का कारण है। विभिन्न धर्मों एव मतावलम्बियों ने उसे विभिन्न नामो से सम्बोधित किया है इसको जानने की विधियाँ ही इसका विज्ञान है। अत: इस विज्ञान के अनुसार जो इसे पूर्ण निश्चय पूर्वक जान लेता है तथा जिसका अन्त.करण संन्यास-योग से परिशुद्ध हो गया है ऐसा व्यक्ति उस ब्रह्म का प्रत्यक्ष अनुभव करके संसार की आसक्ति, कामना, वासना आदि से मुक्त होकर मृत्यु के उपरान्त ब्रह्मलोक मे निवास करता है ऐसा ही महात्मा 'मुक्त' कहलाता है। वह जीवन-मृत्यु के चक्र से बाहर होकर अमृत को उपलब्ध हो जाता है।

७. "पन्द्रह कलाएँ और सम्पूर्ण देवता अर्थात् इन्द्रियाँ अपने-अपने अभिमानी देवताओ में जाकर स्थित हो जाते हैं फिर

समस्त कर्म और विज्ञानमय जीवात्मा ये सब के सब परम अविनाशी परब्रह्म में एक हो जाते हैं।"

व्याख्या—जो महात्मा आत्मज्ञान प्राप्त करके जीवन-मुक्त हो जाता है उसकी शरीर तथा इन्द्रियों के प्रति भी आसक्ति का नाश हो जाता है। आसक्ति के कारण ही ये अपने-अपने कर्मों में सक्रिय रहती है अत: ज्ञानी के आसक्ति नाश से इनका कोई कर्म शेष नहीं रह जाता जिससे मृत्यु के उपरान्त ये अपने-अपने कारण रूप अभिमानी देवताओं में विलीन हो जाती है। इसके बाद जीव का जो कर्मों का संचित कोश है वह भी नष्ट हो जाता है। इनके न रहने से जीवात्मा के सभी साधन नष्ट हो जाने से वह भी निराश्रित होकर उस परब्रह्म में लीन हो जाता है। प्रकृति तत्त्व प्रकृति में तथा जीव तत्त्व ब्रह्म में लीन हो जाता है जिससे उसके पुनर्जन्म की संभावना ही समाप्त हो जाती है। इसी स्थिति को 'योग' कहा जाता है।

८. **"जिस प्रकार बहती हुई नदियाँ नाम रूप को छोड़कर समुद्र में विलीन हो जाती हैं वैसे ही ज्ञानी महात्मा नाम रूप से रहित होकर उत्तम से उत्तम दिव्य-पुरुष को प्राप्त हो जाता है।"**

व्याख्या—वासना के कारण ही शरीर का निर्माण होता है। घड़े का निर्माण तभी किया जाता है जब उसमें कुछ भरने को है अन्यथा कोई प्रयोजन ही नहीं है। सृष्टि में सभी कुछ सकारण है, निरुद्देश्य कुछ भी नहीं है। यह उद्देश्य सूक्ष्म तल का है जो चाहे स्थूल बुद्धि की पकड़ में न आवे किन्तु ब्रह्म की कोई कल्पना ही साकार हो रही है। जब जीव की वासना ही समाप्त हो जाती है तो इस पंचभौतिक शरीर का कोई उपयोग न होने से उसके प्रकृति तत्त्व प्रकृति में विलीन हो जाते हैं तथा नाम रूपधारी यह जीवात्मा उस दिव्य-पुरुष ब्रह्म में उसी प्रकार विलीन हो जाता है जैसे समुद्र में नदियाँ विलीन होती हैं। उसके नाम, रूप आदि का स्वतन्त्र अस्तित्व ही समाप्त हो जाता है।

कुछ धर्म जीवन्मुक्त की जीवात्मा अथवा आत्मा का स्वतन्त्र अस्तित्व मानते हैं कि वह सूक्ष्म रूप से विद्यमान रहता है। ब्रह्म तत्त्व में विलीन नहीं होता किन्तु इस उपनिषद् में महर्षि अंगिरा उसमें लय की बात कहते हैं।

९. "निश्चय ही जो कोई भी उस परब्रह्म को जान लेता है वह ब्रह्म ही हो जाता है। इसके कुल में ब्रह्म को न जानने वाला नहीं होता। वह शोक से पार हो जाता है, पाप समुदाय से तर जाता है, हृदय की गाठो से सर्वथा छूटकर अमर हो जाता है।"

व्याख्या—जब तक उस परब्रह्म को कोई नहीं जान लेता तभी तक उस जीवात्मा का स्वतन्त्र अस्तित्व बना रहता है। इस स्वतन्त्र अस्तित्व का कारण वासना ही है तथा अहकार वश अपना स्वतन्त्र अस्तित्व मान बैठता है। ऐसा केवल उस परब्रह्म के ज्ञान के अभाव मे ही होता है। उसकी विस्मृति मात्र से ही उसे जीव होने का भ्रम हो जाता है तथा इसी अज्ञान के कारण वह क्षुद्र वासनाओ से ग्रस्त होता है। जब उसे परब्रह्म का ज्ञान हो जाता है तो वह स्वय की आत्मा एव उसमे भेद नही देखता तथा अपने को शरीर, मन, इन्द्रियाँ न मान कर ब्रह्म ही मान लेता है। उसके हृदय की गाँठ यही थी कि वह अपने को अज्ञान वश ब्रह्म से भिन्न जीव समझ बैठा था। अब उसका यह मिथ्या भ्रम ज्ञान से दूर हो जाता है। इसी को हृदय की गांठ का खुलना कहते है। इसलिए इस मंत्र में कहा गया है कि जो ब्रह्म को जान लेता है- वह ब्रह्म ही हो जाता है। वह ब्रह्म बनता नहीं बल्कि ब्रह्म ही था जो अज्ञानवश अपने को जीव समझ बैठा था। इस भ्रम का निवारण प्रत्यक्ष दर्शन के बिना नहीं होता। पुस्तके पढने, प्रवचन सुनने, राम-नाम जपने से नही होता। जैसे सिंह का बच्चा भेडो के समुदाय मे पलने के कारण अपने को भेड मानकर वैसा ही व्यवहार करने लगता है किन्तु दूसरे सिंह के सामने अपनी शक्ल पानी मे देखकर उसका भ्रम मिट जाता है तथा उसका सिंहत्व जाग उठता है जिससे वह भेडों के समुदाय को छोडकर सिंहो के झुण्ड मे शामिल हो जाता है। यदि वह भेड ही होता तो उसके सिंह बनने का कोई उपाय ही नही था। इसी प्रकार यदि यह जीवात्मा परमात्मा न होती तो उसके लिए परमात्मा बनने का कोई उपाय ही नही था। किन्तु ब्रह्म स्वरूप होने से ही भ्रान्ति का निवारण होते ही व ब्रह्म ही हो जाता है। वेदान्त की यह सर्वोपरि धारणा है कि ब्रह्म से भिन्न कुछ भी नही है। सभी ब्रह्म ही है। अज्ञान दृष्टि से ही जीव, प्रकृति, पदार्थ, जड, चेतन आदि नाना नाम रूपों की कल्पना होती है।

ऐसा ज्ञानी महात्मा स्वय शोक के पार हो जाता है तथा समस्त पाप समुदायो से मुक्त हो जाता है। इतना ही नही उसके कुल में सभी

ब्रह्म को जानने वाले ही उत्पन्न होते हैं, अर्थात् उसका प्रभाव कई पीढ़ियों तक चलता रहता है। वह अमर (जन्म मृत्यु से रहित) हो जाता है।

१०. "उस ब्रह्म विद्या के विषय में यह बात ऋचा द्वारा कही गई है कि जो निष्काम भाव से कर्म करने वाले, वेद के अर्थ के ज्ञाता तथा ब्रह्म के उपासक हैं और श्रद्धा रखते हुए स्वयं 'एकर्षि' नाम वाले प्रज्वलित अग्नि में नियमानुसार हवन करते हैं, तथा जिन्होंने विधिपूर्वक सर्वश्रेष्ठ व्रत का पालन किया है, उन्हीं को यह ब्रह्म विद्या बतलानी चाहिए।"

व्याख्या—यह ब्रह्म विद्या सृष्टि का उच्चतम ज्ञान है जिसको अनेक ऋषि महर्षियों ने कई वर्षों तक तपस्या, साधना, चिन्तन, मनन करके प्राप्त किया है तथा यह किसी एक तीर्थंकर, पैगम्बर अथवा ईश्वर पुत्र का ही कथन नहीं है बल्कि सैंकड़ों पीढ़ियों तक किये गये कठोर तप एवं साधना का परिणाम है। यह ज्ञान इतना गूढ़ तथा गंभीर है कि इसे प्राप्त करने में सैकड़ों, हजारों ऋषि महर्षियों का योगदान रहा है। फिर यह ज्ञान आत्मानुभूति से सम्बन्धित है जिसे कोई भी व्यक्ति पुस्तक पढ़ कर प्राप्त नहीं कर सकता। इसके जानने के लिए सदाचरण, संयम, नियम ब्रह्मचर्य, श्रद्धा भक्ति, निष्काम कर्म, साधना, वेदों के अर्थों को जानने की क्षमता, ब्रह्म के उपासक, नित्य नियमपूर्वक अग्नि होत्र कर्म करने वाला, तथा जो सर्वश्रेष्ठ व्रत 'ज्ञान प्राप्ति' का ले चुका है ऐसा जिज्ञासु, जो विनम्र भाव से किसी ज्ञानी गुरु का शिष्यत्व स्वीकार कर लेता है, इस ज्ञान को प्राप्त करने का अधिकारी है। हीरे का मूल्य जौहरी ही जान सकता है, चने सेंकने वाला उसका मूल्य नहीं जान सकता। जो भोगों में ही रत हैं, जो वासना और आसक्ति में डूबे हुए हैं, जो मूढ़ हैं, जिनमें विवेक बुद्धि नहीं है उन्हें इस ब्रह्मज्ञान के उपदेश की ही मनाही की गई है क्योंकि वे इसका दुरुपयोग कर स्वयं नरकगामी बन सकते हैं। योग वाशिष्ठ में इसका विस्तार पूर्वक वर्णन किया गया है।

११. "उसी इस सत्य को (यथार्थ ज्ञान को) पहले अंगिरा ऋषि ने कहा था। जिसने ब्रह्मचर्य व्रत का पालन नहीं किया है वह इसे नहीं पढ़ सकता। परम ऋषियों को नमस्कार है। परम ऋषियों को नमस्कार है।"

व्याख्या—इस ब्रह्मविद्या का सर्व प्रथम उपदेश अंगिरा ऋषि ने

दिया था। उन्होंने यह निर्देश दिया था कि जिसने ब्रह्मचर्य व्रत का पालन नही किया है अर्थात् जिसकी ब्रह्म में आचरण करने की निष्ठा नही है वह इसे नही जान सकता। किसी सत्य ज्ञान को समझने के लिए उसके प्रति निष्ठा का होना आवश्यक है। जो व्यक्ति केवल समाचार पत्र पढ़कर ही तृप्त हो जाते है तथा जो उपन्यास एवं कहानियाँ पढकर ही संतुष्ट हो जाते है, जो सिनेमा देखकर अथवा बाजार मे भगवान व ईश्वर की बातें सुन कर ही अपने को विद्वान मान लेते हैं ऐसे व्यक्तियो की इस ब्रह्मज्ञान विषय में कैसे रुचि हो सकती है। वे इसे पढकर समझ ही नही सकते। वे इसे कोरी बकवास मात्र कह कर इसको समझने की अपेक्षा तिरस्कार ही करेंगे। इसलिए ऐसे लोगो को इसके उपदेश की ऋषि ने मनाही की है जो बड़ी युक्ति संगत है।

द्वितीय खण्ड समाप्त ॥२॥

तृतीय मुण्डक समाप्त ॥३॥

शाँति पाठ

ओ३म् शाँतिः ! शाँतिः !! शाँतिः !!!

॥ अथर्ववेदीय मुण्डकोपनिषद् समाप्त ॥

"सर्वाननशिरोग्रीवः सर्वभूतगुहाशयः
सर्वव्यापी स भगवांस्तस्मात् सर्वगतः शिवः ॥
[श्वेता० ३/११]

३. श्वेताश्वतरोपनिषद्

वेदान्ते परमं गुह्यं पुराकल्पे प्रचोदितम् ।
ना प्रशान्ताय दातव्यं ना पुत्रायाशिष्याय वा पुनः ॥
[श्वेता० ६/२२]

प्रस्तावना

इस श्वेताश्वतर उपनिषद् में कुल ११३ मंत्र हैं जो छः अध्यायों में विभक्त हैं। इसका आरम्भ ब्रह्म जिज्ञासा से होता है जिसमें ब्रह्मविद् ऋषिगणों के मन में इस सम्पूर्ण सृष्टि के रहस्यों को जानने की जिज्ञासा उत्पन्न होती है। इनके मूल प्रश्न हैं—"इस सृष्टि का रचयिता 'ब्रह्म' कौन है ? कैसा है ? हम किससे उत्पन्न हुए है ? किससे जी रहे हैं ? किसके अधीन हमारे कार्य हो रहे हैं ? सृष्टि की रचना कैसे हुई ? ईश्वर, जीव और प्रकृति क्या है ? आदि।" इन प्रश्नों के समाधान हेतु वे समाधि में प्रविष्ट होकर इसका कारण ज्ञात करते हैं जिसकी व्याख्या इसमें की गई है। यह एक ऐसा गुह्य ज्ञान है जिसे उन्होंने प्रत्यक्ष अनुभव करके प्राप्त किया है इसलिए इसे प्रामाणिक ज्ञान माना जा सकता है।

इस छोटे से ग्रंथ में परब्रह्म का स्वरूप, सृष्टि रचना, मोक्ष के उपाय ध्यान एव प्राणायाम की विधियाँ, प्रकृति एव जीवात्मा का स्वरूप, ओंकार साधना, सिद्धियों की प्राप्ति, बन्धन का स्वरूप, विद्या और अविद्या का स्वरूप, कर्म फल, पुनर्जन्म आदि अध्यात्म के सभी अगो के सार का समावेश कर दिया गया है जिसे पढ़कर पाठक वेदों में निर्दिष्ट हमारी इस अमूल्य धरोहर से परिचित हो सकें तथा साधक इसके मार्ग पर चलकर मोक्ष प्राप्ति का फल प्राप्त कर सकें।

यह ज्ञान इतना गुह्य है कि इसका उपदेश, अपने पुत्र, शिष्य अथवा जिसका अन्त.करण शांत न हो गया हो, उसे देने की ऋषि ने सर्वथा मनाही की है। अतः अधिकारी ही इसके रहस्यमय ज्ञान को प्राप्त कर सकता है। इसी से इसका महत्त्व प्रकट होता है कि यह कितना उत्कृष्ट ज्ञान है।

पाठकगण इस ज्ञान के रहस्य को शुद्धचित्त होकर ग्रहण कर इससे लाभान्वित हो सकें इसी आशा से इसकी व्याख्या की जा रही है। परमात्मा तथा गुरु में पूर्ण श्रद्धा रखकर इसको स्वीकार कर लेने मात्र से अनेक भ्रान्तियों का निराकरण हो सके, इसी कामना के साथ इसका आरंभ किया जाता है।

—व्याख्याकार—

श्वेताश्वतरोपनिषद्

शान्ति पाठ

ओ३म् हम दोनों की साथ-साथ रक्षा करें, हम दोनों का साथ-साथ पालन करें, हम दोनों साथ-साथ ही शक्ति प्राप्त करें, हम दोनों की पढ़ी हुई विद्या तेजोमयी हो, हम दोनों परस्पर द्वेष न करें। ओ३म् शान्तिः ! शान्तिः !! शान्तिः !!!

व्याख्या—उपनिषद् का आरम्भ शांति पाठ से किया गया है जिसमें परब्रह्म परमात्मा से गुरु तथा शिष्य दोनों की साथ-साथ रक्षा, पालन, शक्ति तथा तेजोमयी विद्या की प्राप्ति की कामना करते हुए परस्पर द्वेष न करने के साथ त्रितापों की शान्ति की प्रार्थना की गई है। किसी भी उत्तम कार्य के आरंभ में परमात्मा से प्रार्थना करने एवं उनका आशीर्वाद प्राप्त करके जो कार्य किया जाता है उससे सद्बुद्धि प्राप्त होकर कार्य सफलतापूर्वक सम्पन्न होता है तथा बीच में आई विघ्न बाधाओं से बचा जा सकता है।

पहला अध्याय

हरि ओ३म् ब्रह्म विषय पर विचार करने वाले जिज्ञासु कहते हैं—

१. "हे ब्रह्मविदों ! इस जगत् का मुख्य कारण 'ब्रह्म' कौन है ? हम लोग किससे उत्पन्न हुए हैं ? किससे जी रहे हैं ? और किसमें हमारी सम्यक् स्थिति है ? किसके अधीन रहकर हम लोग सुख और दुःखों में निश्चित व्यवस्था के अनुसार बरत रहे हैं ?"

व्याख्या—अध्यात्म विषय का आरम्भ इन्हीं मूलभूत प्रश्नों से होता है कि यह जीव तथा जगत् किससे उत्पन्न हुआ है, किसमें स्थित है तथा इसका अन्त किसमें होगा, इसकी उत्पत्ति का कारण क्या है, जिसका कारण ब्रह्म बताया जाता है, वह कैसा है, मनुष्य के सुख-दुःखों का कारण क्या है, मनुष्य इस जगत् में स्वतन्त्र है अथवा किसी नियंता के अधीन कार्य कर रहा है, इस सृष्टि में जो एक सुव्यवस्था दिखाई देती है उसका कारण क्या है ? आदि प्रश्नों के मन मे उत्पन्न होने से ही इस ज्ञान का उदय होता है। विज्ञान कहता है 'आवश्यकता आविष्कार की जननी है' किन्तु आवश्यकता की पूर्ति के लिए विज्ञान का ही आविष्कार होता है जब कि अध्यात्म का विकास जिज्ञासा से होता है। मानव केवल आवश्यकता की पूर्ति होने से ही संतुष्ट नहीं हो जाता। आवश्यकता शरीर को संतुष्ट कर सकती है किन्तु आत्मा उससे संतुष्ट नही होती। सब कुछ प्राप्त करके भी वह असतुष्ट ही रहती है। उसको इससे भी अधिक चाहिए। मनुष्य सृष्टि के गहनतम रहस्यो को जानना चाहता है। इसी जिज्ञासा से अध्यात्म का जन्म होता है। साधारण विज्ञान भौतिक सुख सुविधाओं की पूर्ति तक ही सीमित रह जाता है जबकि अध्यात्म उस उच्चतम की भी खोज करता है जहाँ विज्ञान का प्रवेश नही हो सकता। विज्ञान जहाँ समाप्त होता है वहाँ से अध्यात्म आरम्भ होता है इसलिए इसे सर्वोपरि विज्ञान कहा जा सकता है। यह विज्ञान भी कोरी कल्पना न होकर प्रयोग तथा परीक्षण पर आधारित है किंतु इसकी प्रयोगशाला मनुष्य के भीतर ही स्थित है। यह विज्ञान चेतना से सम्बधित है जो भीतर तथा बाहर सर्वत्र व्याप्त है किंतु इसकी प्राप्ति भीतर खोज से ही होती है। विज्ञान बाहर ढूंढ़ता है जिससे यह उसकी पहुँच से बाहर हो गया है।

इस मंत्र में ब्रह्म विषय पर चर्चा करने वाले परस्पर सत्संग करके इस मूल आध्यात्मिक प्रश्न का हल ढूंढना चाहते है जिससे वे यह जिज्ञासा प्रकट करते हैं। इन्ही प्रश्नो में समस्त अध्यात्म का सार समाया हुआ है।

२. "क्या काल, स्वभाव, नियति, आकस्मिक घटना पांचो भूत या जीवात्मा ही इसका कारण (योनि) है ? इस पर विचार करना चाहिए। इन सबका समुदाय भी इस जगत् का कारण नही हो सकता क्योंकि ये चेतन आत्मा के अधीन है (जड़ होने से स्वतन्त्र नही)। जीवात्मा भी इस जगत् का

कारण नहीं हो सकता क्योंकि सुख-दुःखों के हेतु भूत प्रारब्ध के अधीन है (स्वतंत्र नहीं है)।

व्याख्या—इस मंत्र में भी सृष्टि के कारण को जानने की ही जिज्ञासा की गई है कि इस सृष्टि का मूल कारण-तत्त्व कौन-सा है ? सृष्टि की रचना के विषय में बड़ा महत्त्वपूर्ण प्रश्न है यह। सृष्टि रचना के विषय में जितना चिन्तन वैज्ञानिक रूप से वेद, उपनिषद्, पुराणों आदि में मिलता है उतना किसी अन्य धर्म ग्रंथों में नहीं मिलता। जैन तथा बौद्ध धर्म ने तो इस विषय को छूआ तक नहीं है कि सृष्टि की रचना किस प्रकार हुई। मुस्लिम तथा ईसाई धर्मों ने सब कुछ ईश्वर ने बनाये, ऐसा कहकर छोड़ दिया किन्तु हिंदू दर्शन ने इसकी क्रमबद्ध वैज्ञानिक व्याख्या प्रस्तुत की है। बाईबिल के पुराने नियम में इसकी थोड़ी व्याख्या है।

जिस प्रकार एक घड़े के निर्माण में मिट्टी उपादान कारण है, कुम्हार निमित्त कारण है तथा उसके विचार-मानसिक कल्पना अथवा संकल्प, कर्म, पुरुषार्थ, समय तथा प्रकृति के गुण आदि अन्य कारण हैं, उसी प्रकार सृष्टि के निर्माण में भी इन सबका संयुक्त योगदान है। कोई भी एक-एक कारण सृष्टि का निर्माण नहीं कर सकता क्योंकि उसका उपादान कारण—'प्रकृति' की भी अनिवार्यता है। शून्य से किसी पदार्थ का निर्माण नहीं हो सकता। प्रकृति जड़ होने से वह स्वयं निर्माण नहीं कर सकती। अतः इसका निर्माता कोई चेतन तत्त्व है जो इसका निमित्त कारण है। साथ में उसके मानसिक विचार, संकल्प या कल्पना की भी आवश्यकता होती है। सबसे पहले एक मानसिक रूप रेखा तैयार होती है तभी कोई व्यवस्थित कार्य सम्पन्न हो सकता है। एक मकान के निर्माण में, किसी चित्र के निर्माण में सर्वप्रथम एक मानसिक रूप रेखा तैयार की जाती है फिर उसके अनुसार नक्शा बनता है, नक्शे के आधार पर ही कारीगर उसके निर्माण की सामग्री को जुटाता है तथा उसका उपयोग करता है। इसमें मजदूरों का कर्म भी सम्मिलित होता है तथा समयावधि का भी स्थान है। प्रकृति के गुण अर्थात् जिस पदार्थ का उपयोग किया जा रहा है उनके गुण-धर्म आदि पर भी विचार किया जाता है। इस प्रकार इतने कारण उपस्थित होने पर ही मकान का निर्माण संभव है। इनमें से एक भी कारण में त्रुटि रह जाने पर वह मकान उपयोग के योग्य नहीं रहता। इसी प्रकार सृष्टि की रचना के पीछे मूल, आधारभूत कारण कौन-सा है यह जानना ही अध्यात्म का विषय है, जो इस रहस्य को नहीं जानते अथवा इसकी उपेक्षा करते हैं वे सम्पूर्ण अध्यात्म का रहस्य नहीं जान सकते। जिस डाक्टर को

शरीर रचना का ज्ञान नही है वह बीमारी के कारणों की खोज करके उसका उपचार कैसे करेगा ? जो डाक्टर शरीर रचना, मनुष्य की प्रकृति, दवाओं के गुण धर्म, दवा देने का समय, मात्रा आदि का ध्यान रखे बिना इलाज करता है वह कभी भी शरीर को निरोग नही बना सकता । इसी प्रकार जो प्रकृति के रहस्यों को जाने बिना ही मोक्ष की विधियाँ बताते है उनसे आत्मकल्याण अथवा मोक्ष तो क्या जगत् का कल्याण भी नही हो सकता क्योकि वे इनके कारण रूप रहस्य को जानते ही नही ।

सृष्टि के निर्माण मे भी छ. कारणो को प्रमुखता से स्वीकार किया गया है जिनकी व्याख्या छ दर्शनों में की गई है—कर्म की व्याख्या मीमांसा में, समय की वैशेषिक में, उपादान कारण (परमाणु) की व्याख्या न्याय मे, पुरुषार्थ की व्याख्या योग मे, तत्त्वो के अनुक्रम से प्रकृति की व्याख्या सांख्य में तथा निमित्त कारण ब्रह्म (परमेश्वर) की व्याख्या वेदान्त शास्त्रों में की गई है । इसलिए इनमें परस्पर कही विरोध नही है बल्कि सभी आवश्यक है । वैज्ञानिक, सृष्टि रचना को आकस्मिक घटना मात्र मान लेते है, कुछ दार्शनिक, अथवा वैज्ञानिक वस्तुओ का स्वभाव मात्र मानते हैं, कुछ प्रकृति को ही कारण मानते है कि सब कुछ प्रकृति से ही अपने आप हो रहा है । इसका कर्ता, नियंता कोई नही है । किन्तु प्रकृति तो जड है । जड पदार्थ कभी ऐसी सृष्टि का निर्माण नही कर सकते जो इतनी व्यवस्थित एवं सुचालित हो । इसके पीछे कोई चेतन तत्त्व है जो यह सब अपने सकल्प से कर रहा है । कुछ कहते है जड़ के सयोग से ही चेतन की उत्पत्ति होती है किंतु वह तर्क भी युक्तिसगत प्रतीत नही होता ।

इन्हीं समस्याओं के समाधान हेतु तत्त्वज्ञानी पुरुष परस्पर सत्संग द्वारा विचार विमर्श करके अपने-अपने तर्क प्रस्तुत करते हुए इस रहस्य की खोज करके निर्णय लेते हैं । ये पुस्तकों के आधार पर अथवा बने बनाये सिद्धांतों को ही सत्य मानकर, अन्ध-विश्वासी होकर यह नही कहते कि वेदों मे, पुराणों मे, भागवत में ऐसा लिखा है इसलिए यही मान लिया जाय । ऐसा मानना अन्धविश्वास मात्र है । वे वैज्ञानिक ढंग से तर्क वितर्क करके ही किसी निर्णय पर पहुंचते है । इसी का सार इस उपनिषद् मे दिया है जो सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण है । इसे जान लेने पर समस्त भ्रांतियाँ मिट जाती है तथा सत्य स्वरूप का ज्ञान हो जाता हे । यही इसकी विशेषता है ।

३. "उन्होंने ध्यान योग में स्थित होकर अपने गुणों से ढकी हुई उस परमात्मा की स्वरूप भूत शक्ति को देखा जो अकेला ही उन काल से लेकर आत्मा तक सम्पूर्ण कारणों पर शासन करता है।"

व्याख्या—सृष्टि की उत्पत्ति के कारणों को जानने के लिए उन वेद वेत्ताओं ने ध्यान योग में स्थित होकर उस पर-ब्रह्म का साक्षात्कार किया तथा यह ज्ञात किया कि यह अकेला ही चेतन तत्त्व जगत् के सभी पदार्थों का कारण है तथा वही इन सब पर शासन कर रहा है। पूर्व मन्त्र में बताये गये तत्त्व काल, स्वभाव, नियति, आकस्मिक घटना, पाँचों भूत अथवा जीवात्मा कोई भी इस जगत् का अकेला या संयुक्त रूप से कारण नहीं है। ये भी सभी उसी के अनुशासन एवं नियंत्रण में कार्य कर रहे हैं अतः वह पर-ब्रह्म ही एक मात्र कारण है। यह ध्यान योग द्वारा प्रत्यक्ष देखा गया सत्य है।

४. "उस एक नेमि वाले तीन घेरों वाले, सोलह सिरों वाले, पचास अरों वाले, बीस सहायक अरों से तथा छः अष्टकों से युक्त अनेक रूपों वाले एक ही पाश से युक्त मार्ग के तीन भेदों वाले दो निमित्त और मोह रूपी एक नाभि वाले इस चक्र को उन्होंने देखा।"

व्याख्या—इस मन्त्र में इस सृष्टि की तुलना एक चक्र से की गई है जिसे ध्यान योग की अवस्था में उन ऋषियों ने देखा। वे कहते हैं कि इस सम्पूर्ण सृष्टि का आधार एक ही अव्याकृत प्रकृति है जो सत्व, रज एवं तम तीन घेरों वाली है। इस प्रकृति के आठ स्थूल एवं आठ सूक्ष्म तत्त्व ये सोलह इसके सिर हैं। पचास अन्तःकरण की वृत्तियां हैं, दस इन्द्रियाँ, पाँच विषय एवं पाँच प्राण ये बीस उसके सहायक अरे हैं, इस शरीर में आठ-आठ के छः समूह अंग रूप से विद्यमान हैं, आसक्ति रूपी एक पाश है जो इन सबको बांधे हुए है। ऐसा यह जीव तीन मार्गों से गमन करता है (देवयान, पितृयान तथा संसार का मार्ग है) जिनके पुण्य एवं पाप कर्म दो निमित्त हैं तथा अहंकार (अज्ञान) ही इसकी नाभि है जिसके सहारे यह संसार चक्र चलता है।

५. "पांच सोतों से आने वाले विजय रूप जल से युक्त, पाँच स्थानों से उत्पन्न होकर भयानक और टेढ़ी-मेढ़ी चाल से

चलने वाली, पाँच प्राण रूप तरंगो वाली, पाँच प्रकार के ज्ञान का आदि कारण मन ही है। पांच भँवरों वाली, पाँच दु:ख रूप प्रवाह के वेग से युक्त, पांच पर्वों वाली, पचास भेदों वाली (नदी को) हम जानते हैं।"

व्याख्या—इस मन्त्र में संसार की तुलना नदी से की गई है जिसमें यह विषय रूपी जल है जो पाँच ज्ञानेन्द्रियों के स्रोतों से आता है। ये ज्ञानेन्द्रियाँ पाँच सूक्ष्मभूतों (तन्मात्राओं) शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध से उत्पन्न होती हैं। यह नदी बड़ी टेढी-मेढ़ी चाल से चलती है जिसका किसी को पता नहीं चलता कि आगे क्या होगा? ये पाँच प्राण इसकी तरंगे हैं जिससे निरंतर हलचल होती रहती है, शान्ति कहीं नही मिलती। पाँच प्रकार की ज्ञानेन्द्रियों के द्वारा होने वाले ज्ञान का आदि कारण मन ही है। इन्द्रियों के पाँच विषय ही इसके पाँच भंवर हैं जिनमे पडकर वह दु.ख का ही भागी होता है तथा पांच प्रकार के दु:ख (गर्भ दु:ख, जन्म दु.ख, बुढ़ापा दु.ख, रोग दु:ख और मृत्यु दु:ख) ही इसका प्रवाह है जिनसे जीवन सदा व्याकुल रहता है। पाँच क्लेश (अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष और अभिनिवेश) इसके पाँच विभाग हैं जिनमे यह जगत बँटा है। इनका समुदाय ही ससार का स्वरूप है तथा अंत:करण की पचास वृत्तियां ही इस नदी के भिन्न-भिन्न रूप है जिनसे ससार मे भेद की प्रतीति होती है।

६. "इस सर्व जीव रूप, सबके आश्रयभूत, विस्तृत ब्रह्म चक्र में जीवात्मा घुमाया जाता है। वह अपने आपको और सबके प्रेरक परमात्मा को अलग-अलग जानकर उसके बाद उस परमात्मा से स्वीकृत होकर अमृत भाव को प्राप्त हो जाता है।"

व्याख्या—यह जगत सब जीवों का आश्रय स्थल है। इस विस्तृत संसार चक्र में वह परमात्मा, जीवात्मा को अपने-अपने कर्मों के अनुसार घुमाता रहता है। जब तक जीवात्मा अपने को उस परमात्मा से अलग समझता है तब तक वह इस चक्र मे घूमता ही रहता है किन्तु जब आत्म ज्ञान द्वारा उसकी यह भ्रांति मिट जाती है कि मैं उस ब्रह्म से अलग हूं तथा जब उसे इसकी एकता की अनुभूति हो जाती है तब परमात्मा उसे स्वीकार कर लेता है जिससे जीवात्मा और परमात्मा का भेद मिटकर वह स्वयं ब्रह्म स्वरूप होकर अमृत भाव को प्राप्त हो जाता है (जन्म मृत्यु के चक्र से छूट जाता है)।

७. "यह वेद वर्णित परब्रह्म ही सर्वश्रेष्ठ आश्रय और अविनाशी

है उसमें तीनों लोक स्थित हैं। वेद के तत्त्व को जानने वाले महापुरुष यहाँ (हृदय में) अन्तर्यामी रूप से स्थित उस ब्रह्म को जानकर उसी के परायण हो, उस परब्रह्म में लीन होकर सदा के लिए जन्म-मृत्यु से मुक्त हो गये।"

व्याख्या—यह परब्रह्म ही सबका आश्रय है तथा तीनों लोक इसी में स्थित हैं। इससे भिन्न किसी की सत्ता नहीं है। यही चेतन तत्त्व अविनाशी परब्रह्म सभी के हृदय में स्थित है जिसको जान लेने मात्र से ही वह सम्पूर्ण आसक्ति, कामना, अहंकार आदि से मुक्त होकर इस जन्म-मृत्यु के चक्र से सदा के लिए मुक्त हो जाता है। ऋषि लोग इस ज्ञान को प्राप्त करके ही मुक्त हुए हैं।

८. "विनाशशील जड़वर्ग एवं अविनाशी जीवात्मा इन दोनों से संयुक्त व्यक्त और अव्यक्त स्वरूप इस विश्व को परमेश्वर ही धारण और पोषण करता है तथा जीवात्मा इस जगत के विषयों का भोक्ता बना रहने के कारण प्रकृति के अधीन असमर्थ हो इससे बंध जाता है और उस परमदेव परमेश्वर को जानकर सब प्रकार के बन्धनों से मुक्त हो जाता है।"

व्याख्या—यह परब्रह्म जगत के समस्त जड़ वर्ग और चेतन जीवात्मा का संयुक्त रूप है। दोनों ही इसी एक के प्रकट रूप हैं, इसी की अभिव्यक्ति मात्र है जो व्यक्त और अव्यक्त दोनों अवस्थाओं में रहता है। इसी का व्यक्त स्वरूप सृष्टि है तथा अव्यक्त को ही 'ब्रह्म' कहा जाता है। यही ब्रह्म इस विश्व को धारण एवं पोषण करता है किन्तु जीवात्मा अहंकार के कारण अपने को उस परब्रह्म से भिन्न मानकर आसक्ति में पड़कर विषयों का भोक्ता बन जाता है। इन्हीं भोगों के कारण वह प्रकृति की अधीनता स्वीकार कर लेता है तथा इससे बँध जाता है। जब वह उस परब्रह्म को जान लेता है तो उसकी भोगों के प्रति आसक्ति समाप्त हो जाती है। यह आसक्ति ही उसका बंधन था जिसे तोड़कर वह सदा के लिए मुक्त हो जाता है। भोगों का आकर्षण ही जीवात्मा के बंधन का कारण है तथा इनसे मुक्ति ही उसकी मुक्ति है। विषय जीवात्मा को नहीं बाँधते बल्कि भोगों की रुचि के कारण वह स्वयं इनसे बँध जाता है। यही उसका अज्ञान है जो परमात्मा की प्राप्ति पर ही छूटता है जिससे ज्ञान होकर वह बंधन मुक्त हो जाता है।

९. "सर्वज्ञ और अज्ञानी, सर्वसमर्थ और असमर्थ ये दो अजन्मा

आत्मा है तथा इनके सिवा भोगने वाले जीवात्मा के लिए उपयुक्त भोग्य सामग्री से युक्त अनादि प्रकृति एक तीसरी शक्ति हैं क्योंकि वह परमात्मा अनन्त, सम्पूर्ण रूपों वाला और कर्तापन के अभिमान से रहित है। जब मनुष्य इन तीनों को (ईश्वर, जीव और प्रकृति) ब्रह्म रूप मे प्राप्त कर लेता है तब वह सब प्रकार के बन्धनों से मुक्त हो जाता है।"

व्याख्या— इस सम्पूर्ण सृष्टि में एक ही मूल तत्व है जिसे 'परब्रह्म' कहा जाता है। इसकी अभिव्यक्ति तीन रूपों मे होती है। इसके दो रूप है ईश्वर तथा जीवात्मा। ये दोनों ही अनादि एवं अजन्मा है। ये उस परब्रह्म का ही स्वरूप है किंतु जीवात्मा भोगासक्त है तथा अज्ञानी है। इसे उस परमात्मा का ज्ञान नही है जबकि ईश्वर ज्ञान स्वरूप है। ईश्वर सर्वज्ञ है जीवात्मा अल्पज्ञ है, वह ईश्वर सर्व समर्थ है जबकि जीवात्मा असमर्थ है, ईश्वर कर्तापन से रहित है जबकि जीवात्मा अहंकार के कारण अपने को कर्ता मानता है, ईश्वर असीम एवं अनंत है जबकि जीवात्मा सीमाबद्ध एवं परिमित है। ये दोनों चूँकि ब्रह्मरूप ही है किंतु अज्ञानवश ही वह अपने को कर्ता, भोक्ता मान बैठा है जिससे वह उससे भिन्न न होते हुए भी भिन्न सा प्रतीत होता है। इन दोनों के अतिरिक्त एक तीसरी शक्ति भी है जिसे 'प्रकृति' कहा जाता है जो इस जीवात्मा को भोग प्रदान करती है। ये भोग यद्यपि क्षणिक हैं तथा क्षण भगुर हैं किंतु जीवात्मा अहंकारवश उस परमात्मा को भूलकर इसकी ओर आकर्षित होता है। यही इसकी माया बन जाती है जिसके अधीन होकर वह जीवन-मृत्यु के दुःख भोगता है। जिस समय इस जीवात्मा को इन तीनों की एकता का ज्ञान हो जाता है उस समय वह प्रकृति के तुच्छ भोगो से विरक्त होकर स्वय को ब्रह्मरूप ही मान लेता है उस समय वह प्रकृति, कर्म, आसक्ति आदि के सम्पूर्ण बंधनो से मुक्त हो जाता है। इस प्रकार इस सम्पूर्ण सृष्टि मे एकता का ज्ञान होना तथा इसे ब्रह्मरूप समझना ही एकमात्र बंधनमुक्त होने का उपाय है। परमात्मा की प्राप्ति अथवा उसके ज्ञान के बिना बंधनमुक्त होने का कोई उपाय नही है। जगदगुरु शकराचार्य भी कहते है "जब तक ब्रह्म और आत्मा की एकता का बोध नही होता, तब तक सौ कल्पों मे भी मुक्ति नहीं हो सकती।"

१०. "प्रकृति (प्रधान) तो विनाशशील है। इसको भोगने वाला जीवात्मा अमृत स्वरूप अविनाशी है। इन विनाशशील जड़

तत्त्व और चेतन आत्मा इन दोनों को एक ईश्वर अपने शासन में रखता है। इस प्रकार जानकर उसका निरन्तर ध्यान करने से, मन को उसमें लगाये रखने से तथा तन्मय हो जाने से अन्त में उसी को प्राप्त हो जाता है। फिर समस्त माया की निवृत्ति हो जाती है।"

व्याख्या—यह प्रकृति ही उस परमेश्वर की माया शक्ति है जो जीवात्मा को क्षणिक भोग प्रदान कर उसे ईश्वर से विमुख करती है। मनुष्य अन्धा होकर इसके लुभावने जाल में फंस कर, उस परमात्मा को भूल जाता है। यह प्रकृति जीवों को क्षणिक सुख देकर अनन्त काल तक उसके जन्म मृत्यु रूपी दुःखों का कारण बन जाती है। किन्तु यह प्रकृति जिसका मूल रूप 'प्रधान' कहलाता है वह विनाशशील है। वह कभी जीव को शाश्वत सुख, शाँति एवं आनन्द की प्राप्ति नहीं करा सकती। इसको भोगने वाला जीवात्मा भी अमृत स्वरूप एवं अविनाशी है किन्तु ये दोनों (प्रकृति एवं जीवात्मा) उस एक ईश्वर के अधीन हैं, उसी के अनुशासन एवं नियन्त्रण में कार्य कर रहे हैं। जब इस जीवात्मा को ऐसा ज्ञान हो जाता है तो इस माया रूपी प्रकृति के आकर्षण से मुक्त होकर वह ब्रह्म रूप ही हो जाता है। उसके ज्ञान की विधि है मन को निरन्तर उसी में लगाये रखकर तन्मय होकर उसका ध्यान करना। इससे वह विषयों की आसक्ति से मुक्त होकर परमपद को प्राप्त कर लेता है। पतंजलि ने इसी को 'चित्त वृत्ति निरोध' कहा है।

११. "उस परमेश्वर का निरन्तर ध्यान करने से उस प्रकाशमय परमात्मा को जान लेने पर समस्त बन्धनों का नाश हो जाता है। क्लेशों का नाश हो जाने से जन्म-मृत्यु का सर्वथा अभाव हो जाता है। शरीर का नाश होने पर तीसरे लोक (स्वर्ग) तक के समस्त ऐश्वर्य का त्याग करके सर्वथा विशुद्ध पूर्ण काम हो जाता है।"

व्याख्या—उस परब्रह्म परमेश्वर को ध्यान द्वारा ही जाना जाता है। बाहर खोजने पर वह नहीं मिलता। सर्वप्रथम ध्यान के द्वारा ही उसकी भीतर अनुभूति होती है इसके बाद वह सम्पूर्ण जगत् में, जड़-चेतन सभी में दिखाई देता है। उसके ज्ञान के बिना यह प्रकृति रूपी माया लुभावनी ज्ञात होती है किन्तु उसका ज्ञान हो जाने पर इस प्रकृति का समस्त आकर्षण समाप्त हो जाता है तथा माया रूप से इसने जो जीवात्मा पर

झूठा आवरण डाल रखा था वह नष्ट हो जाता है जिससे जीवात्मा के समस्त बन्धन नष्ट हो जाते हैं जो केवल आसक्ति के कारण थे तथा समस्त क्लेशों (अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष और अभिनिवेश) का सर्वथा अभाव होकर जीवात्मा जन्म-मृत्यु के चक्र से मुक्त हो जाता है तथा शरीर त्याग के बाद वह स्वर्गादि के भोगों का भी त्याग करके पूर्णकाम परब्रह्म स्वरूप ही हो जाता है। स्वर्ग के भोग एवं वहाँ का ऐश्वर्य भी क्षण-भंगुर है। अतः मुक्ति का अभिलाषी इनकी भी कामना नहीं करता।

१२. "अपने ही भीतर स्थित इस ब्रह्म को ही सर्वदा जानना चाहिए क्योंकि इससे बढ़कर जानने योग्य तत्त्व दूसरा कुछ भी नहीं है। भोक्ता (जीवात्मा), भोग्य (जड़वर्ग), और उनके प्रेरक परमात्मा इन तीनों को जानकर मनुष्य सब कुछ जान लेता है। इस प्रकार यह तीन भेदों में बताया हुआ ही ब्रह्म है।"

व्याख्या—यह सम्पूर्ण सृष्टि ब्रह्म की ही अभिव्यक्ति है। उससे भिन्न कुछ भी नहीं है। इसमें ये तीन रूप हैं—जीवात्मा, प्रकृति (जडवर्ग) एवं परमात्मा। जड प्रकृति भोग्य वर्ग है जिसका जीवात्मा भोग करता है। ब्रह्म इन दोनो मे समाहित है। प्रकृति के रहस्यो को जानना 'अविद्या' है। यही 'अपरा विद्या' है तथा उसमें स्थित ब्रह्म को जानना विद्या है जिसे 'परा विद्या' कहते हैं। इस चेतन ब्रह्म को स्वयं के भीतर ही जाना जा सकता है तथा प्रकृति को बाहर से जाना जाता है। प्रकृति को जानना 'विज्ञान' है तथा स्वयं के भीतर स्थित ब्रह्म को जानना 'ज्ञान' है। इस प्रकार विद्या और अविद्या, ज्ञान और विज्ञान दोनो को ही जानना पूर्ण ज्ञान है। किन्तु ब्रह्म को जाने बिना केवल प्रकृति को जान लेने से वह मूल तत्त्व अनजाना ही रह जाता है जबकि ब्रह्म को जान लेने पर सब कुछ जाना हुआ हो जाता है। अतः वही सबसे बढकर जानने योग्य है। प्रकृति को जान लेना इतना महत्वपूर्ण नहीं है। जो व्यक्ति तीनो को जान लेता है वह सब कुछ जान लेता है। फिर जानने योग्य कुछ भी शेष नहीं रहता। ईशावास्य उपनिषद् के मंत्र ११ मे एवं १४ मे दोनों को जानना महत्व-पूर्ण बताया है। यद्यपि यह ब्रह्म सबमें व्याप्त है किन्तु उसका ज्ञान जीवात्मा के भीतर ही होता है। अतः उसे ध्यान द्वारा ही जाना जा सकता है।

१३. "जिस प्रकार आश्रयभूत काष्ठ में स्थित अग्नि का रूप नहीं

दिखाई देता और उसके चिन्ह (सत्ता) का नाश भी नहीं होता क्योंकि वह चेष्टा करने पर फिर भी ईंधन रूप उसमें ग्रहण किया जा सकता है, उसी प्रकार वे दोनों (जीवात्मा और परमात्मा) शरीर में ही ओंकार के द्वारा [साधन करने पर] ग्रहण किये जा सकते हैं।"

व्याख्या—यह परब्रह्म परमात्मा जीवात्मा में इस प्रकार उपस्थित है जैसे लकड़ी के भीतर अग्नि, दूध के भीतर घी, पत्थर के भीतर ऊर्जा, आदि जो दिखाई नहीं देता किन्तु उसकी सत्ता का अभाव नहीं है। यदि लकड़ी में अग्नि नहीं होती तो उनको रगड़ने से वह प्राप्त नहीं हो सकती थी, यदि दूध में घी की सत्ता नहीं होती, यदि तिलों में तेल नहीं होता तो उसे प्राप्त नहीं किया जा सकता था। उनके सत्ता रूप से विद्यमान होने से ही प्राप्त होता है। इसी प्रकार जीवात्मा में वह ब्रह्म छिपा है जिसे ओंकार की साधना से प्राप्त किया जा सकता है। इसमें कोई सन्देह नहीं है।

१४. "अपने शरीर को नीचे की अरणि और प्रणव को ऊपर की अरणि बनाकर ध्यान के द्वारा निरन्तर मन्थन करने से साधक छिपी हुई अग्नि की भांति हृदय में स्थित उस परम देव परमेश्वर को देखे।"

व्याख्या—इस मंत्र में ओंकार की साधना किस प्रकार करनी चाहिए यह बताया गया है कि जिस प्रकार अग्नि को प्रकट करने के लिए दो अरणियों को निरन्तर रगड़ा जाता है उसी प्रकार शरीर में निरन्तर ओंकार की ध्वनि करते रहने से उन ध्वनि तरंगों के प्रभाव से वह सुप्त ऊर्जा जाग्रत होती है तथा उसी ऊर्जा के पुनः शान्त होने पर उस परब्रह्म का साक्षात् होता है। जब वह ऊर्जा प्रकट होती है तो सर्वप्रथम उसका तीव्र प्रकाश दिखाई देता है। उस प्रकाश के भीतर ही उसका स्वरूप छिपा है। सर्वप्रथम ओंकार की ध्वनि से उस शांत शक्ति का जागरण होता है इसके बाद ध्यान द्वारा उसका ज्ञान होता है फिर प्रत्यक्ष दर्शन। यही विधि सर्वोत्तम विधि है। जैन ग्रन्थों में भी प्रथम सम्यक् ज्ञान एवं बाद में सम्यक् दर्शन माना गया है।

१५. "तिलों में तेल, दही में घी, स्रोतों में जल और अरणियों में अग्नि जिस प्रकार छिपे रहते हैं, उसी प्रकार वह परमात्मा अपने हृदय में छिपा हुआ है। जो कोई साधक इसको सत्य

के द्वारा और तप से (संयम से) देखता रहता है—चिन्तन करता रहता है, उसके द्वारा वह ग्रहण किया जाता है।"

व्याख्या—मंत्र संख्या १३ एव १४ मे ओंकार की साधना द्वारा उस ब्रह्म को प्रत्यक्ष करने की दूसरी विधि बतलाई गई है जिसमें कहा गया है कि जो इस ओंकार की साधना नही कर सकते वे सदाचरण, सत्य की साधना एवं इन्द्रियो का संयम करके विषयों से आसक्ति को हटाकर, चित्त की वृत्तियों को भटकने से रोककर एकाग्रचित्त हो, मन से समस्त विचारों को हटाकर केवल उसी का निरन्तर चिन्तन करते रहने से हृदय में छिपे हुए उस परमात्मा का प्रत्यक्ष अनुभव होता है। इन्द्रियों को विषयो से हटाकर एकाग्रचित्त होना ही सयम है तथा यही तप है। शरीर को यातना देना तप नही है, शरीर को सताना धर्म नही है उस परमात्मा को पाना ही धर्म है। उसको प्राप्त करने का साधन मन का सयम ही है। यही उत्तम तप है।

१६. "दूध में स्थित घी की भांति सर्वत्र परिपूर्ण आत्मविद्या तथा तप से प्राप्त होने वाले परमात्मा को वह साधक जान लेता है। वह उपनिषदों में बताया हुआ परम तत्त्व ब्रह्म है।

व्याख्या—जिस प्रकार दूध के भीतर घी, तिल के भीतर तेल, लकड़ी के भीतर अग्नि किसी स्थान विशेष पर केन्द्रित न होकर उसके हर कण मे व्याप्त है उसी प्रकार यह ब्रह्म रूपी चेतन तत्त्व शरीर के भीतर सर्वत्र व्याप्त है तथा परिपूर्ण रूप से विद्यमान है। उसे जो साधक आत्म ज्ञान द्वारा तथा इन्द्रियों का संयम करके जान लेता है, वह ब्रह्म ठीक वैसा ही है जैसा उपनिषदों में बताया गया है। तात्पर्य यही है कि उपनिषदो में ब्रह्म की जैसी व्याख्या की गई है वह कोरी मानसिक कल्पना नही है बल्कि प्रत्यक्ष देखा गया सत्य है। इसलिए इन दोनो मे कोई भिन्नता ज्ञात नही होती इसे दो बार दोहराने का अर्थ है कि उपनिषदो में ब्रह्म की जो व्याख्या की गई है निश्चय पूर्वक उसे वैसा ही समझना चाहिए। जिसको इससे भिन्न अनुभूति होती है, वह उसको प्राप्त हुआ ही नही। मार्ग से भटक गया है

ऐसा मानना चाहिए। मार्ग की अनुभूतियाँ सबकी भिन्न-२ होती हैं। किन्तु अन्तिम स्थिति में पहुंचे व्यक्ति की अनुभूति एक ही होती है चाहे व्याख्या करने में शब्दों में भिन्नता हो सकती है किन्तु तथ्य में भिन्नता नहीं होती। इसलिए सभी ज्ञानी एकमत हो जाते हैं चाहे वह भक्त हो, योगी हो, तंत्र का साधक हो, सूफी हो, सांख्यवादी हो अथवा वेदान्ती, कोई भेद नहीं रहता।

॥ पहला अध्याय समाप्त ॥ १ ॥

दूसरा अध्याय

१. "सब को उत्पन्न करने वाला परमात्मा ! पहले हमारे मन, बुद्धियों को तत्त्व की प्राप्ति के लिए अपने स्वरूप में लगाते हुए अग्नि की ज्योति को अवलोकन करके पार्थिव पदार्थों से ऊपर उठकर हमारी इन्द्रियों में स्थापित करे।"

व्याख्या—प्रथम अध्याय के मंत्र संख्या १४ एवं १५ में परमात्म प्राप्ति का उपाय ध्यान बताया गया है। इस अध्याय में ध्यान की प्रक्रिया बताई गई है।

सर्व प्रथम पाँच मंत्रों में परमेश्वर से प्रार्थना करना बताया गया है। प्रार्थना से ध्यान के लिए एक वातावरण बनता है जिससे मन के विचार शान्त होकर चित्त की एकाग्रता में सहायता मिलती है। इस मंत्र में परमेश्वर से प्रार्थना की गई है कि वह सर्वप्रथम हमारे मन एवं बुद्धि को अपने स्वरूप में लगावे। फिर ध्यान में अग्नि की ज्योति का अवलोकन करके पार्थिव पदार्थों से ध्यान को हटाकर उसे हमारी इन्द्रियों में स्थापित करे। अग्नि ही सभी इंद्रियों को प्रकाशित करने वाला है ऐसा ध्यान करके उन्हें वाह्य विषयों से हटा दे। मन एवं बुद्धि की स्थिरता के लिए इंद्रियों को वाह्य विषयों से हटाना प्रथम चरण है। वह इस विधि से हटाया जाना चाहिए।

२. "हम लोग सबको उत्पन्न करने वाले परम देव परमेश्वर की आराधना रूप यज्ञ में लगे हुए मन के द्वारा स्वर्गीय सुख की प्राप्ति के लिए पूरी शक्ति से प्रयत्न करें।"

व्याख्या—इसमें भी परमात्मा से यही प्रार्थना की गई है कि हम उस परमेश्वर की आराधना मे लगे हुए मन के द्वारा स्वर्गादि सुख की प्राप्ति के लिए पूरी शक्ति से प्रयत्न करें। मन जब विषयो से विमुख होकर उस परमात्मा की आराधना मे पूर्णतया लग जाता है तो शीघ्र ही सफलता मिलती है। परमात्मा की आराधना से चित्त शुद्ध होकर ध्यान मे गति बढ जाती है।

३. "सबको उत्पन्न करने वाले परमेश्वर स्वर्गादि लोकों में, आकाश में गमन करने वाले तथा बड़ा भारी प्रकाश फैलाने वाले उन मन और इन्द्रियों के अधिष्ठाता देवताओ को हमारे मन और बुद्धि से संयुक्त करके प्रेरणा करे।"

व्याख्या—इस मंत्र में भी परमात्मा से प्रार्थना की गई है कि वे हमारे मन और इद्रियों के अधिष्ठाता देवताओ को जो स्वर्गादि लोकों में और आकाश मे विचरण करने वाले तथा वड़े भारी प्रकाश वाले हैं, हमारे मन और बुद्धि से सयुक्त करे जिससे वे प्रकाशित हो जाये तथा परमात्मा का ध्यान करने में समर्थ हो जाये। इस दिव्य प्रकाश से हमारे निद्रा, आलस्य, अकर्मण्यता आदि दोप दूर हो जायें। इन देवताओ की ही प्रेरणा से हम ध्यान में स्थित हो सकें।

४. "जिस परमात्मा में ब्राह्मण आदि मन को लगाते है, और बुद्धि की वृत्तियों को भी लगाते है, जिसने अग्नि होत्र आदि शुभ कर्मो का विधान किया है, जो समस्त जगत् के विचारो को जानने वाला है, और एक है, उस सबसे महान्, सर्व व्यापक, सर्वज्ञ, सबके उत्पादक परमदेव परमेश्वर की निश्चय ही महती स्तुति करनी चाहिए।"

व्याख्या—इसमें भी परमात्मा की स्तुति का ही आग्रह किया गया है कि उस परमात्मा की अवश्य स्तुति करनी चाहिए जिसमे ब्राह्मण एव श्रेष्ठ बुद्धि वाले अपने मन को लगाते हैं, वुद्धि की वृत्तियो को उनमें लीन कर देते है, जिस परमेश्वर ने अग्नि होत्रादि कर्मो का विधान किया है जिससे लोग स्वर्गादि सुखों का भोग कर सकें, वह परमात्मा समस्त जगत्

के विचारों को जानने वाला है तथा वह एक ही अद्वितीय है, वह सबसे महान्, सर्व व्यापक, सर्वज्ञ, सबके उत्पादक हैं—ऐसा विचार करके उनकी स्तुति करनी चाहिए जिससे मन पवित्र हो जाय।

५. "हे मन और बुद्धि ! मैं तुम दोनों के स्वामी, सब के आदि पूर्ण ब्रह्म परमात्मा से बार-बार नमस्कार द्वारा संयुक्त होता हूँ। मेरा यह स्तुति पाठ श्रेष्ठ विद्वान की कीर्ति की भाँति सर्वत्र फैल जाय जिससे अविनाशी परमात्मा के समस्त पुत्र जो दिव्य लोकों में निवास करते हैं, सुनें।"

व्याख्या—इसमें मन और बुद्धि को सम्बोधित करके ऋषिगण यह प्रार्थना करते हैं कि हम उनके स्वामी परमात्मा से संयुक्त होते हैं। मन और बुद्धि के त्याग द्वारा ही परमात्मा की उपलब्धि होती है अतः इसी की प्रार्थना की गई है साथ ही यह भी कामना की गई है कि यह स्तुति दिव्य लोकों में निवास करने वाले सभी देवतागण भी सुनें जिससे वे भी हमारे काम में सहयोग कर सकें।

६. "जहाँ अग्नि को मन्थन किया जाता है, जहाँ प्राणवायु का भली-भाँति निरोध किया जाता है, जहाँ सोमरस अधिकता से प्रकट होता है वहां मन सर्वथा विशुद्ध हो जाता है।"

व्याख्या—पूर्व में बताये गये ओंकार के निरन्तर उच्चारण से इस शरीराग्नि का जिस प्रकार मंथन किया जाता है जिससे वह परमात्मा प्रकट हो सके, तथा जहां प्राणायाम की क्रिया इस प्राण-वायु का भली-भाँति निरोध किया जाता है, तथा जहाँ वह आनन्द रूप सोमरस अधिकता से प्रकट होता है, वहाँ यह मन सर्वथा शुद्ध होकर परमात्मा के ध्यान में लग जाता है। मन के शुद्ध हुए बिना वह परमात्मा में नहीं लगता अतः उपरोक्त उपाय मन की शुद्धि में सहायक होते हैं। सर्वप्रथम परमात्मा की स्तुति, फिर ओंकार जप, फिर प्राणायाम तथा इसके बाद आनन्द भावना रखना, किसी प्रकार का तनाव शरीर एवं मन पर न होना ये ही विधियाँ मन को शुद्ध करके उसे ध्यान में ले जाने में सहायक होती हैं।

७. "सम्पूर्ण जगत् को उत्पन्न करने वाले परमात्मा के द्वारा प्राप्त हुई प्रेरणा से सबके आदि कारण उस परब्रह्म परमेश्वर की ही सेवा (आराधना) करनी चाहिए। तू उस परमात्मा में ही आश्रय प्राप्त कर, क्योंकि ऐसा करने से तेरे पूर्व संचित कर्म विघ्न कारक नहीं होंगे।"

व्याख्या—देवताओं की आराधना करने से इस परब्रह्म की आराधना करना श्रेष्ठ है क्योंकि वही समस्त जगत् को उत्पन्न करने वाला है, उसी की प्रेरणा से मन स्थिर होता है तथा उसी का आश्रय पाकर संचित कर्म नष्ट हो जाते हैं जिनको भोगने के लिए नया जन्म नहीं होता। परमात्मा की प्राप्ति अर्थात् आत्मज्ञान के बाद संचित कर्म नष्ट हो जाते हैं तथा नये कर्मों के फल का निर्माण नहीं होता क्योंकि फिर व्यक्ति कर्तापन से मुक्त हो जाता है।

८. "बुद्धिमान मनुष्य को चाहिए कि सिर, गला और छाती - ये तीनों अंग ऊँचे उठाये हुए शरीर को सीधा और स्थिर करके समस्त इन्द्रियों को मन के द्वारा हृदय में निरुद्ध करके ओंकार रूप नौका द्वारा सम्पूर्ण भयंकर स्रोतों को पार कर जाय।"

व्याख्या—ध्यान है शरीर एवं मन की स्थिरता। शारीरिक क्रियाएँ एवं मानसिक विचारों का निरन्तर चलते रहने का कारण मन ही है। मन के निरन्तर चलते रहने का कारण उसके भीतर की वासनाएँ ही हैं जिनके शान्त होने से उस परमात्मा का प्रत्यक्ष अनुभव किया जा सकता है। इसकी एक मात्र विधि ध्यान है। ध्यान की पूर्णता के लिए सर्व प्रथम शरीर को स्थिर करना आवश्यक है क्योंकि मन की हलचल शरीर के माध्यम से ही प्रकट होती है। इसके लिए किसी उपयुक्त आसन से इस प्रकार बैठना चाहिए कि सिर, गला एवं छाती सीधी रहे। ध्यान में ऊर्जा का प्रवाह ऊपर की ओर होता है। जिसके लिए शरीर का सीधा रहना आवश्यक है जिससे ऊर्जा प्रवाह में बाधा न पड़े। इस प्रकार बैठने से शरीर स्थिर होता है किन्तु इसकी स्थिरता में शरीर के किसी अंग पर तनाव न हो। इसके बाद इन्द्रियों को बाह्य विषयों से हटा कर मन में निरुद्ध करे। शरीर तथा इन्द्रियों को रोक लेने पर मन में विचारों का प्रवाह चलता रहता है अतः उसके निरोध के लिए मन को हृदय में स्थिर करना चाहिए। इस प्रकार पूरा ध्यान हृदय में केन्द्रित करके ओंकार का जप एवं ध्यान करे। इस विधि से वासना का पूर्णतया निरोध हो जाता है जिससे संसार सागर को पार किया जा सकता है। वासना ही संसार है एवं उसके निरोध को ही ध्यान कहते हैं।

९. "बुद्धिमान साधक को चाहिए कि उपर्युक्त योग साधना में आहार-विहार आदि समस्त चेष्टाओं को यथायोग्य करते

हुए विधिवत् प्राणायाम करके प्राण के सूक्ष्म हो जाने पर नासिका द्वारा उनको बाहर निकाल दे। इसके बाद दुष्ट घोड़ों से युक्त रथ को जिस प्रकार सारथि सावधानी पूर्वक गन्तव्य मार्ग में ले जाता है, उसी प्रकार इस मन को सावधान होकर वश में किये रहें।"

व्याख्या—इस योग साधना में आहार-विहार आदि चेष्टाएँ यथा योग्य करना चाहिएँ। नियमित रूप से आहार-विहार आवश्यक है। भूख-प्यास, चलना-फिरना आदि दिनचर्या में किसी प्रकार की अति भी न हो तथा त्याग भी न हो। इसको ध्यान में रखते हुए विधिवत् प्राणायाम करे। मन की चंचलता एवं विचारों का प्रवाह प्राणायाम से ही रोका जा सकता है। प्राणायाम में कुंभक के अभ्यास से प्राण सूक्ष्म हो जाते हैं, प्राणों की गति धीमी हो जाती है जिससे विचारों का प्रवाह भी रुक जाता है। इसके बाद रेचक द्वारा धीरे-धीरे प्राण-वायु को बाहर निकाले। इस क्रिया से मन की हलचल बन्द होकर वह शान्त हो जाता है फिर शान्तावस्था में ही मन स्वयं के वश में हो जाता है फिर उसे जिस मार्ग पर लगाना चाहें लगाया जा सकता है। इससे पूर्व मन वासना के कारण स्वेच्छाचारी होकर विषयों की ओर ही भागता था वह अब नियंत्रण में आ जाता है जिससे उसे परमात्मा में लगाया जा सकता है। यह मन उन दुष्ट घोड़ों की भाँति है जो उसमें बैठे सारथी की परवाह न करके अनियंत्रित होकर दौड़ता रहता है जिससे वह सारथी संकटग्रस्त हो सकता है। इसलिए कुशल सारथी विधिपूर्वक इस पर नियंत्रण करके उचित मार्ग पर चलाने में सफल होता है। इस मंत्र में मन को वश में करने की विधि दी गई है।

१०. "समतल, सब प्रकार से शुद्ध, कंकड़, अग्नि और बालू से रहित तथा शब्द, जल और आश्रय आदि की दृष्टि से सर्वथा अनुकूल और नेत्रों को पीड़ा न देने वाले आदि वायु शून्य स्थान में मन को ध्यान में लगाने का अभ्यास करना चाहिए।"

व्याख्या—ध्यान साधना में उपयुक्त स्थान का चयन आवश्यक है जिससे ध्यान करते समय किसी प्रकार का विघ्न न हो तथा मन की एकाग्रता में बाधा न पड़े। जहाँ बैठकर ध्यान किया जाता है वहाँ की भूमि समतल हो तथा सब प्रकार से शुद्ध होनी चाहिए। अशुद्ध, अपवित्र,

गंदगी वाली भूमि ध्यान के उपयुक्त नही है, श्मशान आदि स्थान भी उपयुक्त नही हैं। वह भूमि कंकड़, बालू एव अग्नि से रहित हो जिससे लम्बे समय तक बैठने मे कोई परेशानी न हो तथा शोरगुल, जल की बाधा एवं जानवरो आदि के भय से भी दूर हो जिसमे अनावश्यक विघ्न न पड़े। वह स्थान तेज हवा वाला भी न हो क्योंकि इससे आँखों मे पीड़ा हो सकती है, अत वह स्थान वायु शून्य हो। ऐसे स्थान पर बैठकर ध्यान द्वारा मन को एकाग्र करने मे मन शीघ्र ही एकाग्र हो जाता है।

११. 'परमात्मा की प्राप्ति के लिए किये जाने वाले योग में कुहरा, धुआं, सूर्य, वायु और अग्नि के सदृश तथा जुगनू, बिजली, स्फटिक मणि और चन्द्रमा के सदृश बहुत से दृश्य योगी के, सामने प्रकट होते हैं। ये सब योग की सफलता को स्पष्ट रूप से सूचित करने वाले है।"

व्याख्या—ध्यान के आरम्भ करने पर ज्यों-ज्यो मन स्थिर होता जाता है वैसे ही उपरोक्त वस्तुएँ उसे ध्यान में दिखाई देती हैं। ये कोई उपलब्धि नही है बल्कि ध्यान ठीक प्रकार चल रहा है इसकी सूचक है। ध्यान करने वाले को इनसे प्रभावित न होकर इनकी उपेक्षा करते हुए निरन्तर उसमे लगे रहना चाहिए तथा इनकी अन्य व्यक्तियों के सामने चर्चा भी नही करनी चाहिए अन्यथा अहंकार बढने से इनका आना ही बन्द हो जाता है। ऐसी वस्तुओं का दिखाई देना एक शुभ सकेत है। हर साधक को भिन्न-भिन्न, अनुभूतियाँ होती है जिससे उनकी परस्पर तुलना भी नही की जा सकती। मन का स्थूल रूप उसके विचार हैं तथा उसी का सूक्ष्म रूप ये दृश्य पदार्थ है। अत ये आत्मा से सम्बन्धित न होकर मन से ही सम्बधित होते हैं। इसलिए इनकी भी उपेक्षा करके इनका परित्याग करना चाहिए। जब सब कुछ दिखाई देना बन्द हो जाय तथा केवल प्रकाश ही स्थाई रूप से दिखाई देने लगे तब ध्यान की स्थिरता होती है।

१२. "पृथ्वी, जल, तेज, वायु और आकाश इन पांचो महाभूतों का सम्यक् प्रकार से उत्थान होने पर तथा इनसे सम्बन्ध रखने वाले पाच प्रकार के योग्य सम्बन्धी गुणों की सिद्धि हो जाने पर योगाग्निमय शरीर को प्राप्त कर लेने वाले उस साधक को न तो रोग होता है, न बुढ़ापा आता है और न उसकी मृत्यु ही होती है।"

व्याख्या—प्राणायाम की साधना से योगी को पंचमहाभूतो के

उत्थान का ज्ञान हो जाता है। इन पाँच महाभूतों पृथ्वी, जल, तेज, वायु और आकाश की स्थूल अवस्था है वह दृश्य है किन्तु इनकी प्रत्येक की पाँच-पाँच सूक्ष्म अवस्थाएँ हैं जिन्हें स्थूल, अवस्था, स्वरूपावस्था, सूक्ष्मावस्था, अन्यय अवस्था तथा अर्थवत्त्व अवस्था कहते हैं। योगी को जब इन सभी की सूक्ष्म अवस्थाओं का ज्ञान हो जाता है तो इन्हें उत्थान अवस्था कहते हैं जिससे इनका अप्रकट रूप भी उसके सामने प्रगट हो जाता है। ऐसा ज्ञान होने पर योगी को इनसे सम्बन्धित पाँच प्रकार की सिद्धियाँ प्राप्त होती हैं जिनको श्रावण, वेदन, आदर्श, आस्वाद और वार्ता कहते हैं। इनसे दिव्य शब्द सुनना, दिव्य स्पर्श का अनुभव करना, दिव्य रूप का दर्शन करना, दिव्य रस का अनुभव होना तथा दिव्य गन्ध का अनुभव होना आदि सिद्धियाँ प्राप्त हो जाती हैं जो इन पाँचों महाभूतों की पाँच तन्मात्राएँ—शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध हैं। इनका जब व्युत्थान होता है तो ये सिद्धियाँ हैं किन्तु समाधि के लिए ये विघ्न स्वरूप हैं। अतः योगी को इनकी भी उपेक्षा करनी चाहिए।

जिस योगी को इन पाँचों महाभूतों के सूक्ष्म तत्त्वों का ज्ञान हो जाता है वही उसकी भूत-विजय कहलाती है। प्रकृति के सूक्ष्म तत्त्व ही धीरे-धीरे स्थूलावस्था को प्राप्त होकर महाभूत के रूप में दिखाई देते हैं। मनुष्य का शरीर भी इन पाँचों भूतों से निर्मित है जिनके कारण स्वरूप प्रत्येक के पाँच-पाँच सूक्ष्म तत्त्व हैं। शरीर में रोग, बुढ़ापा तथा मृत्यु इन्हीं के पारस्परिक सामंजस्य में गड़बड़ी होने से आते हैं। योगी जब इनको मूल रूप से जान लेता है तो वह रोग, बुढ़ापा एवं मृत्यु पर भी विजय प्राप्त कर लेता है।

इस भूत जय से अणिमादि आठ सिद्धियाँ तथा काया सम्पत् की प्राप्ति होती है। काया सम्पत् में रूप, लावण्य, बल, वज्र के समान शरीर रचना आदि मुख्य हैं जो इस भूत जय से योगी को प्राप्त होते हैं।

(लेखक की पातंजलि योग सूत्र—विभूतिपाद के सूत्र ३६ से ४६ तक इसकी पूर्ण व्याख्या दी गई है।)

जिस योगी की भूत-जय हो जाती है उसका शरीर योगाग्निमय हो जाता है। फिर वह प्रकृति का दास नहीं उसका स्वामी बन जाता है। प्रकृति उसके पूर्ण अधिकार एवं नियंत्रण में आ जाती है। वह चाहे तो उसमें परिवर्तन भी ला सकता है। वैज्ञानिक विधि की भाँति वह इसका प्रयोग परिक्षण भी कर सकता है।

१३. "शरीर का हल्कापन, किसी प्रकार के रोग का न होना, विषयासक्ति की निवृत्ति, शारीरिक वर्ण की उज्ज्वलता, स्वर की मधुरता, शरीर में अच्छी गन्ध और मल-मूत्र कम हो जाना, इन सबको योग की पहली सिद्धि कहते हैं।"

व्याख्या—जब योगी इन महाभूतों के सूक्ष्म तत्वों की ओर प्राणायाम द्वारा बढ़ता है तो उसे रोग, बुढ़ापा और मृत्यु पर विजय प्राप्त करने के साथ इन सिद्धियों की भी उपलब्धि होती है। रोग निवृत्ति के कारण उसका शरीर हल्का हो जाता है, वह निरोग एवं स्वस्थ हो जाता है क्योंकि रोगों मे अधिकांश का कारण मानसिक होता है। शरीर मे प्राणों का प्रवाह अव्यवस्थित हो जाने से शारीरिक रोग उत्पन्न होते हैं। योगी को पांचों भूत तत्वों का पूर्ण ज्ञान हो जाने से वह प्राणो की गति को नियमित कर लेता है जिससे रोग समाप्त हो जाते है। परमात्मा में ध्यान बढ़ने से उसका आनन्द उसे आने लगता है जिससे विषयों के क्षुद्र आनन्द की आसक्ति से वह मुक्त हो जाता है। शरीर में ऊर्जा का प्रवाह तीव्र हो जाने से उसके शरीर की कांति बढ़ जाती है, रक्त प्रवाह तीव्र हो जाता है, उसके भीतर सौम्यता आने लगती है जिससे उसका स्वर भी मधुर हो जाता है, शरीर के विकारों के विनाश से उसमे अच्छी गन्ध आने लगती है तथा भोजन का पाचन ठीक प्रकार से होने से मल-मूत्र में कमी हो जाती है।

ये सब परिवर्तन योग साधना की प्रथम अवस्था में ही दिखाई देने लगते है। इन चिन्हों के प्रकट होने से उसे विश्वास हो जाता है कि साधना ठीक प्रकार से चल रही है। यदि उसमें कोई त्रुटि है तो इसके विपरीत परिणाम आने लगते हैं जिससे यह ज्ञात हो जाता है कि साधना की विधि को ठीक प्रकार से प्रयोग नहीं किया गया है।

१४. जिस प्रकार मिट्टी से लिप्त होकर मलिन हुआ जो प्रकाश युक्त रत्न है वही भली-भांति धुल जाने पर चमकने लगता है, उसी प्रकार यह देही (जीवात्मा) आत्म तत्त्व को भली-भांति प्रत्यक्ष करके अकेला, कैवल्य अवस्था को प्राप्त, सब प्रकार के दुःखों से रहित तथा कृतकृत्य हो जाता है।"

व्याख्या—यह जीवात्मा उतना ही पवित्र एवं उज्ज्वल है जितना कि वह परब्रह्म परमात्मा है। किन्तु अज्ञान एवं भ्रान्तिवश इसमे अहंकार का उदय हो गया जिससे यह वासना, आसक्ति, मोह-ममता, राग, द्वेष भोग आदि अनेक अवगुणो मे उलझ गया तथा अपने मूल स्वरूप (ब्रह्म)

उनके परस्पर संयोग से ही विभिन्न प्रकार के पदार्थों का निर्माण करती है। ठीक इसी प्रकार वह परब्रह्म की शक्ति ही विभिन्न आकार धारण करती है किन्तु इस वैज्ञानिक ऊर्जा को 'ब्रह्म' नहीं कहा जा सकता क्योंकि यह जड़ है। अध्यात्म की दृष्टि से इस ऊर्जा का जो आदि स्रोत है वह 'ब्रह्म' है जो एक चेतन तत्त्व है। यह ऊर्जा भी उसका अभिव्यक्त रूप है।

ऐसे परब्रह्म परमात्मा को बार-बार नमस्कार है।

॥ दूसरा अध्याय समाप्त ॥ २ ॥

तीसरा अध्याय

१. **"जो एक (ब्रह्म) जगत् रूप जाल का अधिपति अपनी स्वरूप भूत शासन शक्तियों द्वारा शासन करता है, उन विविध शासन शक्तियों द्वारा सम्पूर्ण लोकों पर शासन करता है तथा जो अकेला ही सृष्टि और उसके विस्तार में सर्वथा समर्थ है, इस ब्रह्म को जो महापुरुष जान लेते हैं अमर हो जाते हैं।"**

व्याख्या—वह ब्रह्म इस सम्पूर्ण जगत् का एक मात्र अधिपति, स्वामी है किन्तु वह स्वयं शासक नहीं है। स्वर्ग में वह बैठा हुआ किसी सम्राट् की भाँति शासन नहीं करता बल्कि वह अपनी ही स्वरूप भूत शक्तियों द्वारा शासन करता है। उसकी जो शासन शक्तियाँ हैं वे ही सम्पूर्ण लोकों पर शासन करती हैं। लाओत्से से कहता है, बनाने वाला वही है किन्तु नियंत्रण नहीं करता, वह सृष्टा है लेकिन जेलर नहीं है। परमात्मा सभी पदार्थों को जन्म देता है फिर भी वह उनके मालिक होने का दावा नहीं करता, वह सर्वोपरि है फिर भी उन्हें नियंत्रित नहीं करता। सारी सृष्टि उसके विशिष्ट नियमों से चल रही है। वह नियम बदलता भी नहीं।' परमात्मा ने मनुष्य को पूर्ण स्वतन्त्रता दी है। वह नियंत्रण नहीं कर रहा है। सृष्टि अपने नियमों से चल रही है। परमात्मा अपनी इच्छानुसार उसे नहीं चला रहा है। वह न नियंत्रक है न कर्ता। गीता में भी कहा है—कर्म

में तेरा अधिकार है, फल में नही। फल कर्मानुसार ही होता है। ईश्वर देता नही। वह चैतन्य ऊर्जा निरपेक्ष है किन्तु उसके नियम है। ये नियम उन शक्तियो के ही नियम हैं। नियम का पालन करने से आनन्द मिलेगा, विरोध मे जाने पर दुःख होगा। वह ईश्वर व्यक्ति जैसा नहीं है, जो एक स्थान पर हो। वह अपनी शक्तियों द्वारा ही तीनो लोकों पर शासन करता है। ये शक्तियाँ ही 'देवता' कहलाती है। सृष्टि के विस्तार में वह अकेला ही समर्थ है। ऐसे परम-शक्ति-सम्पन्न परमात्मा को जो जान लेता है वह अमर हो जाता है जन्म-मृत्यु से, रहित हो जाता है।

२. **"जो अपनी स्वरूप भूत विविध शासन शक्तियां द्वारा इन सब लोकों पर शासन करता है वह रुद्र एक ही है, दूसरे का आश्रय नहीं लिया। वह परमात्मा समस्त जीवों के भीतर स्थित हो रहा है। सम्पूर्ण लोकों की रचना करके उनकी रक्षा करने वाला परमेश्वर प्रलयकाल में इन सबको समेट लेता है।"**

व्याख्या—वह परमात्मा अपनी शक्तियो द्वारा ही समस्त लोकों पर शासन करता है। ये शक्तियाँ भी उसी का स्वरूप है, उससे भिन्न नही है। शक्तियाँ अनेक है किन्तु वे सभी उसी एक ही परमेश्वर की है जो रुद्र रूप है। वह किसी दूसरे की सहायता नही लेता। वह सभी जीवो मे अन्तर्यामी रूप से स्थित है तथा प्रलय काल मे सबको अपने भीतर समेट लेता है। इसका अर्थ है सृष्टि का यह अव्यक्त स्वरूप ही ब्रह्म है तथा ब्रह्म का व्यक्त स्वरूप ही सृष्टि है। दोनों में अभिव्यक्ति से ही भिन्नता प्रतीत होती है। प्रलय काल में यह सृष्टि पुनः अव्यक्त में लीन हो जाती है तथा सृष्टि काल में उसकी पुनः अभिव्यक्ति होती है।

३. **"सब जगह आँख वाला तथा सब जगह मुख वाला, सब जगह हाथ वाला और सब जगह पैर वाला, आकाश और पृथ्वी की सृष्टि करने वाला वह एक मात्र परमात्मा मनुष्य आदि जीवो को दो दो हाथो से युक्त करता है तथा पक्षियों को पंखो से युक्त करता है।"**

व्याख्या—वह परमात्म शक्ति सर्वत्र, सबके भीतर व्याप्त है। वह चेतन है अतः सब ओर देखने वाला तथा सब ओर मुख वाला है। वह एक देशीय, मानवाकृति का तथा सीमित नही है। वह सर्वत्र गमन करने वाला है। वही एक इस समस्त सृष्टि-आकाश, स्वर्ग, पृथ्वी आदि की रचना

करने वाला है। उसी ने मनुष्यों को हाथों से तथा पक्षियों को पंखों से युक्त किया है जिससे वे अपना कार्य स्वयं कर सकें। किसी के पराधीन न रहें। यह मंत्र पुरुषार्थ करने की ओर संकेत करता है कि मनुष्य को परमात्मा ने वे सभी अंग एवं सामर्थ्य प्रदान कर दी है जिससे वे स्वयं पुरुषार्थ करके अपने जीवन की रक्षा एवं उन्नति कर सकें। भाग्य के भरोसे न बैठे रहें। वह परमात्मा अन्तर्यामी होकर अपनी बनाई हुई सृष्टि का दृष्टा मात्र है। मनुष्य को सब कुछ देकर वह अपने कर्तापन से मुक्त है। मनुष्य, पशु-पक्षी आदि में जो भी शक्तियाँ हैं, कार्य क्षमताएँ हैं वे सब उसी परमात्मा की हैं जो उसे अनुग्रह पूर्वक दी गई हैं। मृत्यु के समय वही उन्हें पुनः छीन लेता है। अनुदान रूप से प्राप्त इन शक्तियों पर मनुष्य का अधिकार नहीं है। उसे केवल इनके उपयोग का अधिकार है अच्छा उपयोग करके उन्नति कर सकता है तथा दुरुपयोग करके स्वयं अपना पतन कर सकता है। यदि मनुष्य को ऐसी स्वतन्त्रता नहीं होती तो उसके पुरुषार्थ का कोई अर्थ ही नहीं रहता। वह अकर्मण्य, आलसी, निकम्मा एवं परमुखापेक्षी ही बना रहता। फिर कर्म का कोई औचित्य ही नहीं रहता। इसलिए ईश्वर ने मनुष्य को शक्ति सम्पन्न करके कर्ता रूप से प्रतिष्ठित कर दिया किन्तु उसको अनियंत्रित गति-विधियों को रोकने के लिए उसको कर्म फलपर अधिकार नहीं दिया जिससे सृष्टि का सुसंचालन हो सके। ईश्वर के स्वरूप एवं कार्यों को इस मन्त्र द्वारा भली-भाँति समझा जा सकता है। किसी देश पर राजा शासन नहीं करता, उसके बनाये नियम ही शासन करते हैं। वह उचित कार्य पर पुरस्कार एवं गलत पर दण्ड देता है अन्यथा दृष्टा मात्र रहता है इसी प्रकार प्राणियों के दण्ड एवं पुरस्कार की व्यवस्था उनके कर्मफलों के अनुसार करके वह परमात्मा दृष्टा मात्र है जो केवल शक्ति प्रदान करता है। वह निरपेक्ष सत्ता मात्र है।

४. **"जो रुद्र इन्द्रादि देवताओं की उत्पत्ति का हेतु और वृद्धि का हेतु है तथा सबका अधिपति और महर्षि (महान् ज्ञानी, सर्वज्ञ) है, जिसने पहले हिरण्यगर्भ को उत्पन्न किया था, वह परमदेव परमेश्वर हम लोगों को शुभ बुद्धि से संयुक्त करे।"**

व्याख्या - इस सम्पूर्ण सृष्टि पर शासन करके वाली विभिन्न शक्तियां ही हैं जो रुद्र आदि देवताओं के नाम से जानी जाती हैं किन्तु इन सबका अधिपति (स्वामी) वही परब्रह्म (परमेश्वर) है जो इनकी उत्पत्ति का हेतु है। ये कोई स्वतन्त्र शक्तियां नहीं हैं। वह परमेश्वर महान् ज्ञानी है

अर्थात सर्वज्ञ है, वह सब कुछ जानता है। सृष्टि रचना मे सर्व प्रथम उसी ने हिरण्यगर्भ को उत्पन्न किया जिसमे सभी शक्तियो का समावेश था। उसी मे सृष्टि की विभिन्न शक्तियाँ प्रकट होकर सृष्टि रूप मे अभिव्यक्त हुई। उसी परमात्मा ने सर्वप्रथम बुद्धि को (ज्ञान को) उत्पन्न किया। बुद्धि के बाद मन एव अहंकार उत्पन्न हुए जिससे सृष्टि रचना का कार्य आरम्भ हुआ। इस प्रकार बुद्धि ही इस शरीर का श्रेष्ठतम तत्त्व है। उसी से समस्त सद्-असद् कर्म होते हैं। इसलिए यहाँ ऋषि परमात्मा से शुभ बुद्धि के लिए प्रार्थना करते है जिससे स्वयं का तथा जगत का कल्याण हो सके। शुभ बुद्धि ही परमात्मा का वरदान है एवं अशुभ बुद्धि उसका अभिशाप है।

५. **"हे रुद्रदेव ! तेरी जो भयानकता से शून्य (सौम्य) पुण्य से प्रकाशित होने वाली, कल्याणमयी मूर्ति है, हे पर्वत पर रह कर सुख का विस्तार करने वाले शिव ! उस परम शान्त मूर्ति से तू हम लोगों को देख।"**

व्याख्या चाहे भक्ति हो, योग हो, तन्त्र हो, ध्यान हो, सेवा-पूजा हो, प्रार्थना हो, परम उपलब्धि के लिए उस परमात्मा की सर्वत्र ही आवश्यकता पडती है। बिना उस परमात्मा की सहायता के उपलब्धि नही हो सकती, इसलिए दुनिया के सभी धर्मों ने उस परमेश्वर की सत्ता को स्वीकार किया है जो अकारण नही है। पतजलि ने भी योग साधना के साथ ईश्वर प्रणिधान को स्वीकार किया है, कबीर ने भी अन्त मे राम का सहारा लिया। ध्यान साधना में जब साधक शून्य की स्थिति मे पहुँचता है तो उसका सब कुछ छूट जाता है जिससे वह निरालम्ब हो जाता है। उस समय यदि परमात्मा का सहारा न लिया जाय तो विक्षिप्त हो सकता है। इसलिए परमात्मा को छोडकर कोई भी साधना सफल नही हो सकती। जो परमात्मा पर श्रद्धा रखे बिना साधना मे उतरते हैं वे भटकते ही हैं। उन्हे मार्ग नही मिलता।

इस मत्र मे भी ऋषिगण रुद्रदेव से यही प्रार्थना करते है कि तेरी यह सौम्य रूप तथा पुण्यमयी मूर्ति है जो सबका परम कल्याण करने वाली है तथा सदा सुख का ही विस्तार करती है हमारी ओर एक दृष्टिपात कर दे। तेरी नजर जब हमारी ओर हो जाती है तो हमारे सभी शोक, चिन्ताएँ, वासना आदि समाप्त होकर हम सद्मार्ग मे चल सकते हैं। सद्मार्ग पर चलने के लिए परमात्मा का नित्य सानिध्य

बना रहे तो साधक के गिरने के अवसर समाप्त हो जाते हैं। अतः साधना में प्रभु अत्यन्त आवश्यक हैं। स्वयं के पुरुषार्थ के साथ यदि परमात्मा को सिर पर रखकर कार्य किया जाय तो वह साधक कभी कुमार्गगामी नहीं हो सकता।

६. **"हे कैलाशवासी सुखदायक परमेश्वर! जिस बाण को फेंकने के लिए तू हाथ में धारण किये हुए है, हे गिरिराज हिमालय की रक्षा करने वाले देव! उस बाण को कल्याणमय बनालो, जीव समुदाय रूप जगत् को नष्ट न कर।"**

व्याख्या—भगवान शिव के दो स्वरूप हैं। जब वह शान्तावस्था में होता है तो वह सौम्य, परम कल्याणकारी, होता है तथा जब उसी का रौद्ररूप प्रकट होता है तो वह सम्पूर्ण सृष्टि का विनाश कर देता है। वह परब्रह्म ही शिव (कल्याणकारी) रूप है जो उसकी शान्तावस्था है। जब उसमें स्पन्दन होता है तब शक्ति का जागरण होता है। इसी शक्ति से सृष्टि का निर्माण भी होता है तथा विध्वंश भी। यहाँ ऋषिगण भगवान शिव से यही प्रार्थना करते हैं कि तू जिस बाण को हाथ में धारण किये है। अर्थात् जो तुम्हारे में विध्वंश की शक्ति है उसे तू इस जगत् के प्राणियों के लिए कल्याणमय बना दे जिससे यह संसार संहार से बच सके। अपने बाण से इस जगत् को नष्ट न कर। जगत् के कल्याण के लिए ऋषियों की यह विधायक दृष्टि है। साधना काल में सर्वत्र विधायक दृष्टि रखने से उपलब्धि शीघ्र होती है। नकारात्मक विचारों वाले सदा उस परमात्मा की कृपा से वंचित ही रहते हैं। स्वयं का ही नहीं जगत् के कल्याण की सदा कामना करने वाला उस परमात्मा का शीघ्र ही कृपा पात्र बन जाता है क्योंकि ईश्वर कहीं स्वर्ग में बैठा नहीं है बल्कि समस्त जड़-चेतन में व्याप्त है। अतः समस्त प्राणी समुदाय के लिए मंगल की कामना करते रहने से शीघ्र ही उसका फल प्राप्त होता है। जो सर्वत्र निन्दा, घृणा, तिरस्कार आदि से भरा है वह ईश्वर प्राप्ति से वंचित हो रहता है।

७. **"पूर्वोक्त जीव समुदाय रूप जगत् के परे और हिरण्यगर्भ रूप ब्रह्मा से भी श्रेष्ठ समस्त प्राणियों में उनके शरीरों के अनुरूप होकर छिपे हुए और सम्पूर्ण विश्व को सब ओर से घेरे हुए उस महान्, सर्वत्र व्यापक एक मात्र परमेश्वर को जानकर ज्ञानीजन अमर हो जाते हैं।"**

व्याख्या—पौराणिक दृष्टि से जिसे 'ब्रह्मा' कहा जाता है वही

भौतिक दृष्टि से हिरण्यगर्भ है। परब्रह्म उससे भी परे का तत्त्व है जो सर्वत्र व्यापक, महान् एक मात्र परमेश्वर है। उसी का सर्वप्रथम हिरण्यगर्भ रूप में संगठन हुआ जिससे सृष्टि निर्माण की प्रक्रिया आरम्भ हुई इसलिए हिरण्यगर्भ ही ब्रह्मा के नाम से पुराणो मे अभिव्यक्त है। जीव समुदाय का विकास हिरण्यगर्भ (शक्तियो के संगठन) के विस्फोट से हुआ। इसलिए समस्त सृष्टि का कारण वही एक परब्रह्म है जो सबसे परे का एक ही अनादि तत्त्व है। वही तत्त्व सूक्ष्म शक्ति रूप मे सभी प्राणियो में व्याप्त है तथा समस्त विश्व को घेरे हुए है। इस एक तत्त्व को जान लेने पर जीव की वासना, आसक्ति, अहंकार आदि समाप्त हो जाते है। उसकी उस परमेश्वर से भिन्नता की भ्रांति ही जन्म-मृत्यु और समस्त दु.खों का कारण है। यह भिन्नता उस परम तत्त्व को जान लेने से मिट जाती है जिससे वह स्वयं ब्रह्ममय होकर अमरत्व को प्राप्त हो जाता है।

८. **"अविद्या रूप अन्धकार से अतीत तथा सूर्य की भाँति स्वयं प्रकाश स्वरूप इस महान् पुरुष को मैं जानता हूँ। उसको जानकर ही मनुष्य मृत्यु को उल्लंघन कर जाता है। इस परमपद की प्राप्ति के लिए दूसरा मार्ग नही है।"**

व्याख्या—इस सम्पूर्ण सृष्टि में मनुष्य ही एक ऐसा प्राणी है जो सबसे दु खी है। जानवर, पशु-पक्षी इतने दु खी नहीं है। वे अपने स्वाभाविक कार्य कर लेते है व संतुष्ट हो जाते है किन्तु मनुष्य सब कुछ साध्य असाध्य कार्य करते हुए भी दु खी है। उसके पास कुछ न हो तो भी दु.खी रहता है तथा सब कुछ पाकर भी दु खी रहता है। विपन्नता में यदि दु खी है तो सम्पन्नता मे उससे भी अधिक दुःखी है, जिसके पास दो समय का भोजन नही है वह भी दु खी है एवं दुनिया का सबसे धनी व्यक्ति भी दु खी है, भिखारी दु.खी है तो सिकन्दर भी दु.खी था, आज सम्पूर्ण भौतिक साधनो के होते हुए भी मनुष्य अधिक दुःखी व तनावग्रस्त है जितना पहले कभी नही था। इसका आखिर राज क्या है? यदि सम्पन्नता अभिशाप है तो क्या दरिद्री होकर सुखी रहना अच्छा है, यदि ज्ञान से दु खो मे वृद्धि होती है तो अज्ञानी रहकर सुखी होना श्रेष्ठ है, यदि जीवन ही दु ख है तो क्या मृत्यु का वरण कर लिया जाय, यदि भौतिक प्रगति से दु खो मे वृद्धि होती है तो क्या इसे रोक कर पुनः आदिम जीवन व्यतीत करके सुख प्राप्त किया जाय। जैन धर्म कहता है "जन्म दु.ख है, बुढापा दु.ख है, रोग दु ख है, मृत्यु दु:ख है। अहो! संसार दु.ख ही है, इसमे जीव क्लेश पा रहे है।"

बौद्ध दर्शन भी जीवन को दुःख रूप ही मानता है। पतंजलि ने भी पाँच क्लेशों का वर्णन किया है जिनका मूल अविद्या को बताया है। यह अविद्या ही माया है जो भ्रमवश पैदा हुई है। पतंजलि कहते हैं "अनित्य अपवित्र दुःख और अनात्म में नित्य, पवित्र, सुख और आत्मभाव की प्रतीति ही 'अविद्या' है।" (योग सूत्र २/५) इस प्रकार इस जगत् को ही सत्य, नित्य एवं आत्म रूप मानने का जो भ्रम है वही दुःखों का कारण है। इसी कारण अध्यात्मविद् कहते हैं कि विषयों में सुख हैं ही नहीं। जो विषयों में ही सुख ढूंढ़ता है कि सभी प्रकार की भौतिक सम्पदा प्राप्त हो जाने पर मनुष्य सुखी हो जायेगा, यह उसका भ्रम मात्र है। न समस्त विषयों की पूर्ति हो सकती है, न कभी वासना, तृष्णा आदि शाँत हो सकती हैं, न वह सुखी ही हो सकता है। यह मन एक ऐसा वर्तन है जिसे चाहे कितना ही भरो यह खाली ही रहता है। ज्यों-२ इसे भरते जाते हैं त्यों-२ यह सुरसा की भाँति अपना मुंह फैलाता ही जाता है। यदि त्रिलोकी का राज्य भी इसे दे दिया जाय तो भी यह दुःखी ही रहेगा। किसी ने इस मन से यह नहीं पूछा कि तू आखिर चाहता क्या है? किसको प्राप्त करना चाहता है? इस सम्पूर्ण वैभव को पाकर भी तू दुःखी क्यों है? वास्तव में मन इन भौतिक पदार्थों एवं भोगों से कभी संतुष्ट नहीं हो सकता। इसको इससे भी अधिक चाहिए जिसको प्राप्त करने के लिए वह तीनों लोकों का साम्राज्य उस पर न्यौछावर करने को तैयार है। उसका दुःख यही है कि उसे जो चाहिए वह मनुष्य उसे दे नहीं पा रहा है। बच्चा खिलौने से ही संतुष्ट हो जाता है किंतु मनुष्य इस बूढ़े मन को भी खिलौनों से (भोगों से) संतुष्ट करना चाहते हैं यह इससे संतुष्ट नहीं होगा। एक चिंपाजी एक केले से संतुष्ट हो सकता हैं किंतु मन स्वर्ग का राज्य पाकर भी दुःखी रहेगा। वह इससे भी अधिक चाहता है। उसकी भूख गहरी है। वह जब से उस परमात्मा से अलग हुआ है तभी से पुनः उसी को प्राप्त करने की इच्छा से छटपटा रहा है। जब तक उसे वह नहीं मिलेगा वह वृक्ष से गिरे पत्ते की भाँति सूखता ही रहेगा। इस अविद्या रूपी अन्धकार से ही वह मार्ग भूल गया है, भटक गया है। उसे फिर मार्ग तभी मिल सकता है जब इस अविद्या रूपी अंधकार के पार जाकर मनुष्य उस परम तेजस्वी, स्वप्रकाश रूप परब्रह्म का साक्षात्कार कर ले। यह मन उसी को पाने की लालसा से दुःखी है तथा मनुष्य उसे भोगों से संतुष्ट करना चाहता है जो खिलौने मात्र हैं। उससे वह कभी संतुष्ट नहीं होगा। हजारों वर्षों से लोग कथा, प्रवचन, उपदेश देते आ रहे हैं, भोगों से उसे संतुष्ट करने का प्रयत्न कर रहे हैं किंतु उस मन के दुःखों का अन्त हुआ ही नहीं। ये साधु-संन्यासी झूठी

सान्त्वना दे देकर इसका शोषण ही कर रहे है। कोई भी इसे शांति नही दे पाया। क्योंकि इसके संतोष का राज कोई नही जानता।

इस एक ही मन्त्र मे ऋषि ने इसके दु खों का राज प्रकट कर दिया कि उस परब्रह्म को जानना ही इसकी संतुष्टि का एकमात्र मार्ग है, अन्य कोई मार्ग नही है तथा वह उस अविद्या रूपी अन्धकार से परे है। जब इस अविद्या का नाश होगा तभी उसकी प्राप्ति संभव है। यह अविद्या क्या है ? इस पर पतंजलि कहते हैं 'दृष्टा और दृश्य का संयोग दुःख का कारण है। उस सयोग का कारण 'अविद्या' है। (योग सूत्र २/१९-२४) मनुष्य की यही भ्रान्ति है कि ये विषय सुख दे सकते है, यही दु खो का कारण है जबकि वास्तविकता यह है कि विषयो में सुख है ही नही। इसकी यह भ्रांति परमात्म ज्ञान के बिना नही मिट सकती। एक ही उपाय है इसका। इस मन्त्र मे ऋषि कहता है कि उस पुरुष (परब्रह्म) को मैं जानता हूं। अर्थात् वह प्रत्यक्ष देखे गये सत्य के आधार पर कहता है कि परमात्म प्राप्ति ही दु खो के अत का एकमात्र उपाय है अन्य कोई नही है। समस्त धर्म जिन दु खो के अन्त की बात कहते है, ऋषि ने एक ही मन्त्र मे इसका समाधान कर दिया जो सबसे महत्वपूर्ण है, तथा यही एक मात्र सत्य है। जो इसे स्वीकार कर लेता है उसके दुःखो का अत होकर परमानन्द का अनुभव कर सकता है।

९. **"जिससे श्रेष्ठ दूसरा कुछ भी नही है, जिससे बढ़कर कोई भी न तो अधिक सूक्ष्म और न महान् ही है। एक जो अकेला ही वृक्ष की भांति निश्चल भाव से प्रकाशमय आकाश में स्थित है, उस परम पुरुष परमेश्वर से यह सम्पूर्ण जगत् परिपूर्ण है।"**

व्याख्या—वह परब्रह्म एक वृक्ष की भांति है। यह सम्पूर्ण जगत् उसी वृक्ष का तना, शाखाएं, टहनियां, फूल एव फल की भांति उसी से पोषण प्राप्त कर रहा है। उससे भिन्न इस जगत् की सत्ता नही हो सकती। इसका समस्त खिलाव, प्रसार उसी के अधीन है। उसकी सत्ता के बिना सृष्टि की कल्पना ही नही हो सकती। वह परम शक्ति सबसे श्रेष्ठ, सबसे बढ़कर, सबसे सूक्ष्म है तथा सूक्ष्म होकर ही सबसे महान् है। स्थूल शक्ति-हीन होता है। सभी शक्ति सूक्ष्म की ही है। परमाणु मे जो शक्ति है वह पदार्थ मे नही है, चेतन मे जो शक्ति है वह जड मे नही है। 'जो जड हो गया वह शक्तिहीन हो जाता है। बीज की शक्ति ही वृक्ष का रूप धारण

करती है। अतः सूक्ष्म में ही महानता का बीज छिपा है। परब्रह्म भी ऐसा ही सूक्ष्म से भी सूक्ष्म तत्त्व है जिससे सम्पूर्ण सृष्टि का विस्तार होता है इसलिए वही महान् है। वह अकेला ही ऐसा तत्त्व है जो सृष्टि के विस्तार में समर्थ है। यही अद्वैत की धारणा है जहाँ तक दुनिया के कुछ ही ज्ञानी पहुंच पाये हैं। यह जगत् उससे भिन्न नहीं बल्कि उसी से परिपूर्ण है। अध्यात्म जगत् की यही सर्वोपरि खोज है।

१०. "उस पहले बताये हुए हिरण्यगर्भ से, जो अत्यन्त उत्कृष्ट है, वह परब्रह्म परमात्मा आकार रहित और सब प्रकार के दोषों से शून्य है। जो इसको जानते हैं वे अमृत (अमर) हो जाते हैं, परन्तु इस रहस्य को न जानने वाले लोग बार-बार दुःख को ही प्राप्त होते हैं।"

व्याख्या—पूर्व मन्त्र संख्या ७ में इसका स्पष्टीकरण दिया गया है कि यह परब्रह्म उस हिरण्यगर्भ (ब्रह्मा) का भी पूर्व रूप है जो उससे भी अधिक सूक्ष्म है। संकल्प के कारण वह सघनता को प्राप्त होकर सीमित पिंड बना जिसे हिरण्यगर्भ अथवा ब्रह्म कहा गया। योगवाशिष्ठ में उल्लेख है कि सर्वप्रथम ऐसे दस ब्रह्मा उत्पन्न हुए जिन्होंने अपनी-२ सृष्टियाँ बनाईं। अतः सृष्टि रचना का कार्य इस हिरण्यगर्भ से ही आरम्भ हुआ। किंतु वह परब्रह्म उससे भी सूक्ष्म, उसका पूर्व रूप है। वह ब्रह्मा का भी पिता है जो आकार रहित एवं सभी दोषों से शून्य है। उसे जान लेने पर ही सृष्टि में एकत्व का ज्ञान होता है जिससे मनुष्य का अहंकार नष्ट होकर वह अमर हो जाता है। जब तक उसे नहीं जाना जाता तब तक संसार को ही सत्य मान कर भोगों में ही रुचि लेने वाला मनुष्य बार-बार इस जन्म-मृत्यु रूपी दुःखों को प्राप्त होता ही रहेगा। यह निश्चयात्मक सत्य है।

११. "वह भगवान् सब ओर मुख, सिर और ग्रीवा वाला है, समस्त प्राणियों के हृदय रूप गुहा में निवास करता है और सर्वव्यापी है। इसलिए वह शिव (कल्याण-रूप) रूप परमेश्वर सब जगह पहुँचा हुआ है।"

व्याख्या—वह परमात्मा व्यक्ति जैसा नहीं कि उसके एक ही मुख, दो आँखें व दो ही हाथ हों। मनुष्य ने अपनी ही कल्पना से उसे अपनी जैसी ही आकृति का बताकर स्वर्ग में बैठा हुआ कोई शासक बता दिया। ऐसी

कल्पना अज्ञानियों की ही कल्पना है। यदि वैज्ञानिक दृष्टि से उस परमेश्वर की व्याख्या की जाय तो वह सृष्टि की समस्त जड़ एव चेतन शक्तियों का एक ही रूप है जो सूक्ष्म से भी सूक्ष्म है। यह उन शक्तियों का समुच्चय भी नहीं है। वहाँ सभी शक्तियाँ सूक्ष्म एवं शान्तावस्था में रहती है। शक्तियो का भी प्रकटीकरण बाद मे होता है। जड और चेतन, शक्ति और शक्तिमान का भेद भी शक्ति प्रकटी के बाद ही होता है। हिरण्यगर्भ की स्थिति मे आकर ये शक्तियाँ विस्फोट की अवस्था मे पहुचती है। विस्फोट के बाद ही इनका जागरण होता है जिनकी क्रिया-प्रतिक्रिया से सृष्टि रचना होती है। इन सबको व्यक्ति रूप देने से इनका वैज्ञानिक पक्ष ओझल हो गया। यदि वैज्ञानिक दृष्टि से इनका विवेचन किया जाय तो सृष्टि रचना की महत्त्वपूर्ण जानकारी इससे मिल सकती है।

ऐसा यह परम तत्त्व है जो सब ओर मुख वाला, तथा सूक्ष्म रूप से सभी प्राणियो मे हृदय में स्थित है इसलिए यह सर्वव्यापी है। यही शिव रूप, परम कल्याणकारी है।

१२. "निश्चय ही यह महान्, समर्थ, सब पर शासन करने वाला, अविनाशी, ज्योतिस्वरूप पुरुष (परमात्मा), अपनी प्राप्ति रूप इस अत्यन्त निर्मल लाभ की ओर अन्तःकरण को प्रेरित करने वाला है।"

व्याख्या—यह परब्रह्म सभी के हृदय मे स्थित होकर अपनी प्राप्ति हेतु सभी को प्रेरणा देता रहता है किंतु मनुष्य इतना अधिक अहंयुक्त एवं वासना तथा भोगों से ग्रस्त है कि इसकी निरन्तर उपेक्षा करता रहता है। जब व्यक्ति इन विषयों की ओर से हट कर इसकी प्राप्ति की ओर ध्यान देता है तभी उसको प्रेरणा का ज्ञान उसे हो पाता है। ऐसी स्थिति उत्पन्न करने के लिए विषयो से ध्यान को हटाकर मौन एव शान्तचित्त हो, शरीर को शिथिल करके, विचारों को रोककर केवल ग्राहक की स्थिति मे थोड़े समय रहने का अभ्यास करे। यह सोकर अथवा बैठे-बैठे भी किया जा सकता है। ग्राहक (रिसेप्टिव) की स्थिति मे इसकी प्रेरणा, सदेश, दर्शन आदि प्रत्यक्ष अनुभव मे आने लगते हैं। थोड़े दिनो के अभ्यास से ही यह संभव है। अन्यथा परोक्ष रूप से जो भी प्रेरणा मनुष्य को हो रही है वह इसी से हो रही है किन्तु मनुष्य इसको नही समझ सकता जिससे वह इस ओर ध्यान नही देता। मन, बुद्धि, अहकार, क्रिया आदि का यही एकमात्र कारण एवं आधार है।

१३. "यह अंगुष्ठमात्र परिमाण वाला, अन्तर्यामी, परम पुरुष सदा ही मनुष्यों के हृदय में सम्यक् प्रकार से स्थित है, मन का स्वामी है, तथा निर्मल हृदय और विशुद्ध मन से ध्यान में लाया हुआ प्रत्यक्ष होता है। जो इसको जान लेते हैं वे अमर हो जाते हैं।"

व्याख्या—यह चेतन ब्रह्म जीवात्मा के रूप में हृदय में स्थित है जिसका परिमाण अंगुष्ठ के बराबर माना गया है। वैसे यह तत्त्व अति सूक्ष्म है। यह अंगुष्ठ के बराबर नहीं होता किन्तु उसकी आकृति अंगुष्ठ जैसी लिंगाकार होती है जो हृदय के केन्द्र में स्थित रहता है; इसलिए इसे अंगुष्ठाकार माना गया है। यही चेतन तत्त्व मन पर शासन करता है तथा उसका स्वामी है। मन की उत्पत्ति भी इसी तत्त्व से हुई है। इसे प्रत्यक्ष करने की विधि है निर्मल हृदय एवं विशुद्ध मन। संस्कारों से रहित मन विशुद्ध हो जाता है। सद् विचारों से भी वह शुद्ध होता है। अतः निरन्तर सदाचरण का पालन करने वाला तथा सद्-विचारों वाला ही शुद्ध मन वाला होता है। इस विधि से जो उस ब्रह्म को प्रत्यक्ष कर लेता है वह जन्म-मृत्यु से मुक्त हो जाता है।

१४. "वह परम पुरुष हजारों सिर वाला, हजारों आँख वाला, और हजारों पैर वाला, समस्त जगत् को सब ओर से घेर कर नाभि से दस अंगुल ऊपर स्थित है।"

व्याख्या—वह परब्रह्म एक ऐसा तत्त्व है जिसमें ज्ञान, क्रिया, दर्शन, गति आदि सभी शक्तियाँ विद्यमान हैं इसलिए उसे हजार सिर वाला, हजारों आँख वाला और हजारों पैर वाला कहा गया है। सृष्टि में सर्वत्र वही व्याप्त है, तथा शरीर के भीतर वह नाभि से दस अंगुल ऊपर हृदय में उसका स्थान माना गया है।

१५. "जो पहले हो चुका है, जो भविष्य में होने वाला है और जो अन्नों से इस समय बढ़ रहा है, यह समस्त जगत् परम पुरुष परमात्मा ही है और अमृत स्वरूप मोक्ष का स्वामी है।"

व्याख्या - सृष्टि की यह सम्पूर्ण सत्ता ही वह परम पुरुष है जो पहले भी हो चुका है तथा भविष्य में भी उसी का विस्तार होने वाला है। विकास की प्रक्रिया में यह जगत् अभी रुका नहीं है। उस परमेश्वर की अनन्त संभावनाएँ हैं जो अभी तक अप्रकट है, असंभूत हैं। विज्ञान ने उसी

सृष्टि के प्रकृति गत अनेक नये रहस्यो की खोज कर उन्हे प्रकट किया है किन्तु इनसे भी हजारो गुनी संभावनाएँ अभी भी अप्रकट है। ज्यों-ज्यों इनका प्रकटीकरण होता जाता है। त्यों-त्यो इसका विकास एवं विस्तार होता जाता है। इसकी कही कोई सीमा भी नही है। विकास की इस अन्तिम सीमा तक पहुँचकर पुनः ईश्वर ही बच रहेगा। इसके बाद विकास नही होगा। जब तक इसका अन्तिम तत्त्व प्राप्त न हो जाय तब तक विकास सभव है। दोनो छोर है परमात्मा के आरम्भ व अन्त में। मध्य में ही यह सारा विकास हो रहा है। मध्य में यह अन्न के रूप मे बढ़ रहा है। अन्न और अन्नाद, अग्नि और सोम, की यज्ञ प्रक्रिया ही इसके विस्तार का कारण है। अन्न और अन्नाद, अग्नि और सोम एक दूसरे में परिवर्तन शील है। जब तक दोनो विद्यमान है इस यज्ञ प्रक्रिया का अन्त नही हो सकता एव सृष्टि का भी अन्त नही हो सकता किन्तु अन्न की समाप्ति पर अन्नाद को शक्ति न मिलने से वह भी क्षीण होकर लुप्त हो जाएगा व सृष्टि का अन्त हो जायगा। इसे इस उदाहरण से समझा जा सकता है। अग्नि अन्नाद है जो ईंधन रूपी अन्न का भक्षण करके ही जीवित रहती है। ईंधन ही न रहे तो वह अग्नि अप्रकट ही रहेगी उसके प्रकट होने के लिए अन्न रुपी ईंधन की आवश्यकता है। ईंधन जब तक अग्नि मे डाला जाता रहेगा वह प्रज्जवलित रहेगी किन्तु ईंधन की समाप्ति पर वह स्वयं ही शांत हो जायगी। इस प्रकार अग्नि ही मूल तत्त्व है जिसे 'अन्नाद' कहते है। वह भक्षण करने वाली है तथा 'सोम' ही अन्न है जिसका भक्षण किया जाता है। वह अग्नि तत्त्व पुन. सोम मे परिवर्तित होकर उसी का अन्न बन जाती है। इनका एक दूसरे मे रूपान्तरण ही यज्ञ है जिससे सृष्टि विकास को प्राप्त होती है। यहाँ अन्न का अर्थ केवल मनुष्यो द्वारा खाये जाने वाले अन्न मे ही नही है बल्कि जो कुछ भी जिसके द्वारा भक्षण किया जाता है वह सभी अन्न है तथा जो भक्षण करने वाला है वह अन्नाद (अग्नि) कहलाता है। इस प्रकार इस सृष्टि कर विकास अन्न से ही हो रहा है जिसकी समाप्ति पर इसका अन्त हो जायगा क्योकि उसके बिना वह अग्नि तत्त्व भी शान्त हो जायगा। यही सृष्टि का प्रलय काल है जिसके अन्त में अग्नि और सोम दोनो समाप्त होकर वह ब्रह्म ही शेष रहेगा जो दोनो का आदि कारण है। इस प्रकार यह ब्रह्म आदि, मध्य और अन्त तीनो अवस्थाओं में विद्यमान है। आदि और अन्त में वह शुद्धावस्था मे रहता है तथा मध्य में वह विकास प्रक्रिया के कारण जगत् रूप मे दिखाई देता है जो उसी की अभिव्यक्ति का परिणाम है। मोक्ष प्राप्ति पर भी वह उस जीवात्मा का स्वामी होता है क्योकि वही उसका कारण है।

१६. "वह परम पुरुष सब जगह हाथ पैर वाला, सब जगह आँख, सिर और मुख वाला तथा सब जगह कानों वाला है। वही ब्रह्माण्ड में सबको सब ओर से घेरकर स्थित है।"

व्याख्या—इसकी व्याख्या पहले भी हो चुकी है कि वह चेतन तत्त्व सर्वत्र व्याप्त होने से सब कुछ देखता है, सुनता है, चलता है अर्थात वह ज्ञान और क्रिया दोनों का स्रोत है। वही इन दोनों का कारण एवं आधार है। वह स्वयं क्रिया नहीं करता लेकिन सभी क्रियाएँ उसी से हो रही हैं इसी प्रकार समस्त इन्द्रियों के ज्ञान का भी वही आधार है। उसकी उपस्थिति के बिना इन्द्रियाँ ज्ञान ग्रहण नहीं कर सकतीं किन्तु वह स्वयं इन्द्रियों से रहित होकर भी कारण स्वरूप है।

(यह मन्त्र गीता १३/१३ में भी इसी रूप में है।)

१७. "वह समस्त इन्द्रियों से रहित होने पर भी सब इन्द्रियों के विषयों को जानने वाला है तथा सबका स्वामी, सबका शासक और सबसे बड़ा आश्रय है।"

व्याख्या—पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ, पाँच कर्मेन्द्रियाँ तथा एक मन है जिनके भिन्न-भिन्न विषय हैं जिनका ज्ञान इन इन्द्रियों को पृथक-पृथक होता है किन्तु इन इन्द्रियों में स्वतन्त्र रूप से इन विषयों को जानने की शक्ति नहीं है। वह शक्ति संयुक्त रूप में आत्मा में ही निहित है जो इन सब विषयों को जानता है। इन्द्रियाँ बिना आत्मा के किसी को नहीं जान सकतीं किन्तु यह आत्मा बिना ही इंद्रियों के सब को जानता है। अतः यही इन सबका स्वामी, शासक एवं इनका आश्रय है। इसके बिना इंद्रियाँ विषयों को जानने में सर्वथा असमर्थ हैं। मुर्दे में इंद्रियाँ यथावत् रहने पर भी आत्मा की अनुपस्थिति में उन्हें ज्ञान नहीं होता। अतः जानने वाला आत्मा ही है। इन्द्रियाँ नहीं।

(इसका पूर्वार्द्ध गीता १३/१४ में ज्यों का त्यों है)

१८. सम्पूर्ण स्थावर और जंगम जगत् को वश में रखने वाला वह हंस (परमेश्वर) नौ द्वार वाले शरीर रूपी नगर में अन्तर्यामी रूप से हृदय में स्थित देही है तथा बाह्य जगत् में लीला कर रहा है।"

व्याख्या—वह परब्रह्म सर्वत्र अन्तर्यामी रूप से व्याप्त है तथा समस्त जड़ चेतन में वही सत्ता रूप से विद्यमान है। मनुष्य के नौ द्वार वाले शरीर

मे भी वही हंस परमात्मारूप से हृदय मे स्थित है तथा बाह्य जगत् मे भी समस्त सृष्टि उसी की क्रिया का परिणाम है। सत्ता और क्रिया दोनों का वही एक मात्र आधार है।

१९. "वह परमात्मा हाथ-पैरों से रहित होकर भी समस्त वस्तुओ को ग्रहण करने वाला, तथा वेग पूर्वक सर्वत्र गमन करने वाला है। आँखो के बिना ही वह सब कुछ देखता है और कानों के बिना ही सब कुछ सुनता है। वह जो कुछ भी जानने में आने वाली वस्तुएँ हैं उन सबको जानता है परन्तु उसको जानने वाला कोई नहीं है। ज्ञानी पुरुष उसे महान् आदि पुरुष कहते हैं।"

व्याख्या—वह परमात्म-तत्त्व चेतन होने से इस सृष्टि मे जो कुछ भी जानने योग्य है उसे वह जानता है क्योंकि वही सब कुछ है। वह जड़ नही चेतन है तथा ज्ञान स्वरूप है। क्रिया भी उसी का स्वभाव है किन्तु उसको जानने वाला कोई नही है क्योकि ज्ञान का दूसरा कोई आधार ही नही है, दूसरा कोई तत्त्व ही नही है जो उसे जाने। दो होने पर ही दूसरा जानने वाला उसको जान सकता है किन्तु दूसरे के अभाव मे उससे भिन्न जानने वाला कोई तत्त्व है ही नही, फिर उसे कौन जान सकता है। ज्ञाता और ज्ञेय दोनों वही है। ऐसे परमतत्त्व को ज्ञानी लोग 'आदि पुरुष' कहते हैं। वही एक मात्र 'पुरुष' है। यह समस्त सृष्टि उसके अग मात्र है। जिस प्रकार शरीर के विभिन्न अंग स्वयं को नही जान सकते न उस चेतन को जान सकते है, चेतन तत्त्व ही इनको हाथ, पैर, आँख, कान आदि के रूप मे जानता है। उसी प्रकार वह परम पुरुष ही सब को जानता है। उसे कोई नही जान सकता।

२०. "सूक्ष्म से भी अतिसूक्ष्म तथा महान् से भी महान् आत्मा इस जीव की हृदय रूप गुफा में निहित है। सबकी रचना करने वाले परमेश्वर की कृपा से जो मनुष्य उस संकल्प रहित परमेश्वर को और उसकी महिमा को देख लेता है वह सब प्रकार के दु खो से रहित हो जाता है।"

व्याख्या—वह परमात्मा आत्मा रूप से हृदय के गहरे भाग में सूक्ष्म रूप मे अवस्थित है तथा वही सबसे महान है जो इस शरीर की समस्त गतियो का संचालन कर रहा है। वही सब की रचना करने वाला है किन्तु स्वयं संकल्प-विकल्प से रहित है। उसका ज्ञान भी उसी की कृपा से होता

है। उसको जाननें के लिए मनुष्य द्वारा किये गए सभी कार्य, योग, साधनाएँ, तपस्या, उपासना, मन्त्र जाप, भक्ति आदि उस समय असफल ही हो जाते हैं जब उसकी कृपा नहीं होती। उसकी कृपा के बिना ये सब साधनाएँ मात्र व्यायाम ही हैं, निष्फल प्रयास है। किन्तु ये साधनाएँ व्यर्थ हैं, ऐसा भी नहीं कहा जा सकता क्योंकि ये ही उस साधक को परमात्मा का कृपा पात्र बनने में सहायक होती हैं। इनके किये बिना भी वह प्राप्त नहीं होता। अतः सभी साधनाएँ आवश्यक भी हैं किन्तु अंतिम उपलब्धि के लिए उसकी कृपा की ही प्रतीक्षा करनी पड़ती है। उसका दावा नहीं किया जा सकता कि मैंने सब साध लिया तो वह प्रत्यक्ष हो ही जाना चाहिए किन्तु ऐसा नहीं होता। इसका मूल भाव यही है कि साधना की अपेक्षा उसका कृपा पात्र बनने का अधिक प्रयत्न करना चाहिए। इसी कारण भक्तों को शीघ्र प्रत्यक्ष होता है व योगियों को विलम्ब से, किसी भी प्रकार से जिसने एक बार उसकी महिमा को देख लिया वह सब प्रकार के दुःखों से रहित हो जाता है। दुःखों का अन्त उसके प्रत्यक्ष ज्ञान के बिना नहीं हो सकता।

(यह मन्त्र कठोपनिषद् १/२/२० में भी इसी रूप में है।)

२१. "ब्रह्म के रहस्य का वर्णन करने वाले महापुरुष जिसके जन्म का अभाव बतलाते हैं तथा जिसको नित्य बतलाते हैं, इस व्यापक, सर्वत्र, विद्यमान, सबके आत्मा, जरा-मृत्यु आदि विकारों से रहित पुराण पुरुष परमेश्वर को मैं जानता हूँ।"

व्याख्या उस परब्रह्म को जानने वाला ज्ञानी ही ऐसी घोषणा करता है। जिस ब्रह्म का वर्णन वेदों में है तथा जिन ज्ञानी महात्माओं ने उसका जैसा वर्णन किया है कि वह अजन्मा है, जन्म-मृत्यु से रहित है, नित्य है, व्यापक है, सर्वत्र विद्यमान है, वह पुराण पुरुष है आदि ऐसे परब्रह्म का मैंने प्रत्यक्ष किया है अतः मैं उसे भली-भाँति जानता हूँ कि वह उसी प्रकार का है जैसा वेदों एवं अन्य शास्त्रों में वर्णित है। यह घोषणा प्रत्यक्ष दर्शन के आधार पर की गई है जो इस बात का प्रमाण है कि शास्त्रों में वर्णित ब्रह्म का स्वरूप कोई दार्शनिक कल्पना मात्र नहीं है बल्कि प्रत्यक्ष देखे गये सत्य से प्रमाणित होती है। इस प्रकार उसके स्वरूप एवं कार्यों को वेद, उपनिषद्, गीता, पुराण आदि में जैसा वर्णन किया गया है वह वैसा ही है। उससे भिन्न किसी भी प्रकार नहीं है।

—::o::—

॥ तीसरा अध्याय समाप्त ॥ ३ ॥

चौथा अध्याय

१. "जो रंग रूप आदि से रहित होकर भी छिपे हुए प्रयोजन वाला होने के कारण विविध शक्तियों के योग से सृष्टि के आदि में अनेक रूप रंग धारण कर लेता है तथा अन्त मे यह सम्पूर्ण विश्व जिसमें विलीन भी हो जाता है, वह परमदेव एक ही है। वह हम लोगों को शुभ बुद्धि से युक्त करे।"

व्याख्या—इस मन्त्र में उस निराकार परब्रह्म से जो साकार होकर सृष्टि के रूप में अभिव्यक्त हुआ है, प्रार्थना की गई है कि वही बुद्धि तथा ज्ञान का कारण है। इसलिए वह हमे बुद्धि प्रदान करे। वह निराकार ब्रह्म रूप, रंग से रहित है। उसकी संकल्प के कारण जब अभिव्यक्ति होती है तो विभिन्न शक्तियो का प्रकटीकरण होता है। इन्ही शक्तियो के परस्पर सयोग से ही आकारो का निर्माण होता है तथा रूप, रंग आदि प्रकट होते है। जिस प्रकार बीज में कही भी रंग दिखाई नही देते, न आकार ही दिखाई देता है किन्तु फूलों में, मोर पखों मे तथा अन्य प्राणियो, पशु-पक्षियों, वनस्पति आदि में विभिन्न रग बाद मे प्रकट होते है उसी प्रकार ब्रह्म से ही यह विभिन्न रूप रग वाली सृष्टि प्रकट होती है किन्तु निराकार ब्रह्म मे वह कही भी दिखाई नही देती। यह सृष्टि रचना विभिन्न प्रकार की शक्तियो के योग से होती है। अत सृष्टि निर्माण का कार्य उसकी शक्तियो का है। उसका स्वयं का नही होने से वह अकर्त्ता ही है। सृष्टि अन्त में भी पुनः उसी निराकार स्वरूप (ब्रह्म) मे ही लीन हो जाती है। इसलिए वही एक तत्त्व अद्वितीय है।"

२. "वही अग्नि है, वही सूर्य है, वही वायु है, तथा वही चन्द्रमा है। वही प्रकाश युक्त नक्षत्रादि है, वह जल है, वह प्रजापति है और वही ब्रह्मा है।"

व्याख्या—वह परब्रह्म अव्यक्त अवस्था में था। उसका सर्व प्रथम व्यक्त स्वरूप ब्रह्मा प्रकट हुए। ब्रह्मा से ही सृष्टि रचना का कार्य आरम्भ

हुआ। वह ब्रह्म महाकाश स्वरूप थे। उससे क्रमशः परमेष्ठी, सूर्य, पृथ्वी और सोम के विभिन्न पर्व बने। यह परमेष्ठी मण्डल आपोमय (जल का मूल तत्त्व) था। इसके भ्रमण से वायु उत्पन्न हुआ तथा वायु के घर्षण से अग्नि कणों की उत्पत्ति हुई जिससे सूर्य, नक्षत्र आदि का निर्माण हुआ। इसी के रूपान्तरण से सोम तत्त्व उत्पन्न हुआ। अग्नि और सोम के यजन (मिश्रण) से ही अन्य सभी भूत पदार्थों का निर्माण हुआ। इस प्रकार इस मंत्र में बताये गये सभी पदार्थ उसी ब्रह्म से उत्पन्न हुए हैं, जिसका कारण वही परब्रह्म है। इस प्रकार सभी सृष्टि ब्रह्म ही है। उससे भिन्न किसी की सत्ता नहीं है।

३. "तू स्त्री है, तू पुरुष है, तू ही कुमार अथवा कुमारी है। तू बूढ़ा होकर लाठी के सहारे चलता है तथा तू ही विराट् रूप में होकर सब ओर मुख वाला हो जाता है।"

व्याख्या—सृष्टि के मूल में वही एक तत्त्व था। ये स्त्री, पुरुष, कुमार, कुमारी, बूढ़ा, जवान, विराट् आदि सब उसी के रूप हैं। यह सब भिन्नता विभिन्न प्रकार के तत्त्वों के प्रकट होने के बाद उत्पन्न हुई। मूल स्वरूप में कोई भेद था ही नहीं। एक ही विशुद्ध चेतन आत्मा है तथा वही अभेद आत्मा ही सर्वत्र व्याप्त है। ये सब भेद शरीर गत हैं। आत्मा स्त्री, पुरुष, बूढ़ा, जवान आदि नहीं होती। वह एक ही रूप से सब में व्याप्त है। इस मन्त्र में ज्ञान प्राप्ति के बाद ज्ञानी को अभेद दृष्टि प्राप्त हो जाती है उसकी अभिव्यक्ति दी गई है।

४. "तू ही नील वर्ण पतंग (भौंरे) है, हरे रंग का और लाल आँखों वाला पक्षी है, एवं मेघ, वसन्त आदि ऋतुएँ तथा सप्त समुद्र रूप है क्योंकि तुझसे ही सम्पूर्ण लोक उत्पन्न हुए हैं। तू ही अनादि (प्रकृति) का स्वामी और व्यापक रूप से सब में विद्यमान है।"

व्याख्या—सांख्य तथा योग दो अनादि तत्त्व मानते हैं प्रकृति तथा पुरुष। किन्तु यह ब्रह्म उस अनादि प्रकृति का भी स्वामी है। प्रकृति जड़ होने से निष्क्रिय है। उसका जब चेतन पुरुष के साथ संयोग होता है। तभी वह सक्रिय होकर कार्य करती है। इस प्रकृति और पुरुष का भी वह मूल तत्त्व परब्रह्म है जिससे इन दोनों की अभिव्यक्ति हुई है अतः यह इन दोनों का स्वामी है। इस प्रकार सम्पूर्ण सृष्टि पशु-पक्षी, कीट-पतंग, मेघ, ऋतुएँ,

समुद्र आदि सभी उसी से उत्पन्न है तथा सभी में वही व्याप्त है। आत्मज्ञानी सबमें इसी एकता का अनुभव करता है। अज्ञानी को ही ये भिन्न-भिन्न ज्ञात होते हैं।

५. "अपने ही सदृश अर्थात् त्रिगुणमयी, बहुत से भूत समुदायों को रचने वाली, लाल, सफेद और काले रंग की (त्रिगुणमयी), एक अजन्मा अनादि प्रकृति को निश्चय ही एक अजन्मा अज्ञानी जीव आसक्त हुआ भोगता है और दूसरा ज्ञानी महापुरुष इस भोगी हुई प्रकृति को त्याग देता है।"

व्याख्या—यह प्रकृति सत्व, रज और तम तीन गुणों वाली है। सत्व का रंग सफेद, रज का लाल तथा तम का कृष्ण माना गया है। यह प्रकृति भी दो प्रकार की है। एक अपरा प्रकृति है जिसके आठ भेद हैं—पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, आकाश, मन, बुद्धि और अहंकार। यह आठ प्रकार की प्रकृति जड़ है। किन्तु एक दूसरी प्रकृति है जो जीव रूप है तथा चेतन है। यह भी इस अपरा प्रकृति के सदृश त्रिगुणमयी है। अपरा प्रकृति अनादि है जो भूत समुदायो को जन्म देती है। यह भी अजन्मा है। चेतन प्रकृति रूप जीव भी अजन्मा है। किन्तु इसमें एक अज्ञानी जीव है जो उस परमेश्वर को भूल कर इस प्रकृति से ही आसक्त होकर इसका भोग करता है तथा दूसरा वह ज्ञानी जीव है जिसने परमात्मा के स्वरूप को जान लिया है। वह इसकी आसक्ति से मुक्त होकर इसको सदा के लिए त्याग देता है।

यह अपरा प्रकृति जड़ है जो भूत सृष्टि को जन्म देती है तथा दूसरी परा प्रकृति चेतन है जो जीवो को जन्म देती है। ये दोनों ही प्रकृतियाँ अनादि हैं तथा उनके एक मात्र स्वामी वह परब्रह्म परमेश्वर हैं जिसके जान लेने पर ज्ञानी का इन प्रकृत्तियो से सम्बन्ध विच्छेद हो जाता है। यही उसका मोक्ष, कैवल्य तथा परम गति है।

(गीता ७/४ एव ७/५ मे इसकी व्याख्या है।)

जैन मतावलम्बी इसी को 'अयोग' कहते है—अर्थात् प्रकृति से आत्मा का अलग हो जाना। यह नकारात्मक भाषा है। हिन्दू दर्शन इसी को 'योग' कहते है—परमात्मा से जुड जाना। यह विधायक भाषा है। जैनी कहता है आधा गिलास खाली है, हिन्दू कहता है आधा भरा है। इससे तथ्य मे अन्तर नही आता। जैन मत भी सांख्य दर्शन का ही रूप है।

६. "सदा साथ रहने वाले तथा परस्पर सख्यभाव रखने वाले

दो पक्षी (जीवात्मा एवं परमात्मा) एक ही वृक्ष का आश्रय लेकर रहते हैं। उन दोनों में से एक (जीवात्मा) तो उस वृक्ष के फलों को (कर्म फलों को) स्वाद ले लेकर खाता है किन्तु दूसरा (ईश्वर) उनका उपभोग न करता हुआ केवल देखता रहता है।"

व्याख्या—यह शरीर एक वृक्ष है जिसका निर्माण वासना पूर्ति हेतु ही हुआ है अन्यथा इसके निर्माण की आवश्यकता ही नहीं थी। इस शरीर का शासक जीवात्मा है जो अज्ञानी है। वह उस परमात्मा के ज्ञान से वंचित है इसलिए वह जो भी कर्म शरीर द्वारा करता है उसके निश्चित फल होते हैं। अज्ञान में किया ऐसा कोई कर्म नहीं जिसका फल न हो। अतः इस शरीर द्वारा अज्ञान से किये गये कर्मों के फल का यह जीवात्मा भोग करता है। परमात्म ज्ञान से अनभिज्ञ रहने के कारण यह भोगों में ही रुचि लेता है। यह उस जीवात्मा का स्वभाव है।

इस शरीर रूपी वृक्ष में ही एक दूसरा पक्षी और रहता है जो परमात्म स्वरूप है। उसकी भोगों में रुचि नहीं है। वह कर्ता नहीं है क्योंकि उसमें अहंकार नहीं है। कर्ता न होने से वह कर्मफलों का भोक्ता भी नहीं है। वह दृष्टा मात्र है जो जीवात्मा के कर्मो को देखता रहता है।

ये दोनों जीवात्मा और परमात्मा साथ-साथ रहने वाले तथा सख्य भाव से रहने वाले हैं किन्तु अहंकार एवं वासना के कारण ये भिन्न स्वभाव वाले हैं। एक साथ रहते हुए तथा एक ही वृक्ष (शरीर) पर रहते हुए भी वह परमात्म रूपी पक्षी सदा जीवात्मा को देखता रहता है किन्तु वह जीवात्मा उसे नहीं देख पाता। इसी से वह कर्म फलों का भोक्ता होता है। जिस समय वह उसे देख लेता है उसी क्षण दोनों का भेद मिट जाता है तथा वह भी परमात्म स्वरूप होकर दृष्टा मात्र रह जाता है। यही उसकी मोक्ष एवं कैवल्य की स्थिति है। जब तक जीवात्मा को परमात्मा का दर्शन नहीं होता वह कर्म फलों का भोग करने हेतु जन्म-मृत्यु के चक्र से मुक्त नहीं हो सकता।

(यही मंत्र मुण्डक उपनिषद् ३/१/१ में ज्यों का त्यों है जिसकी व्याख्या पूर्व में की गई है।)

७. शरीर रूप एक ही वृक्ष पर रहने वाला पुरुष (जीवात्मा)

गहरी आसक्ति में डूबा हुआ है अत: असमर्थ होने के कारण मोहित हुआ शोक करता रहता है। जब भक्तो द्वारा नित्य सेवित अपने से भिन्न परमेश्वर को और उसकी आश्चर्यमयी महिमा को प्रत्यक्ष देख लेता है, तब शोक रहित हो जाता है।"

व्याख्या—जो भोगो की आसक्ति में ही सदा डूबा रहता है वह परमात्म ज्ञान में सदा ही असमर्थ रहता है। इस आसक्ति को छोड़े बिना उसे परमात्म ज्ञान नही हो सकता क्योकि उसकी दृष्टि भोगों पर ही केन्द्रित है। जब वह अपनी दृष्टि भोगो से हटाकर ईश्वर की ओर करता है तभी उसे उस परम का ज्ञान होता है तथा सभी भोग तुच्छ प्रतीत होने लगते है। इसी आसक्ति के कारण वह क्षुद्र भोगो के मोह मे पडकर ही उसके कर्मफलो का भोग करके वह सदा शोक करता रहता है। इस शोक से छूटने का एक मात्र उपाय यही है कि वह भोगो की ओर से आसक्ति का त्यागकर उस परब्रह्म परमेश्वर की महिमा को प्रत्यक्ष कर ले जो भक्तो द्वारा नित्य सेवित है। उसके प्रत्यक्ष अनुभव से ही वह सभी प्रकार के शोक, मोह, आसक्ति, कर्म बंधन आदि से मुक्त होकर परमानद का अनुभव करता है। मनुष्य के लिए यही इष्ट है। अन्य कोई भी साधन उसे शोक मुक्त नही कर सकता। उसकी प्राप्ति के बाद वह जीवात्मा स्वयं परमात्म स्वरूप हो जाता है अर्थात् भोगों से मुक्त होकर दृष्टा मात्र रह जाता है। यही उस जीवात्मा की परमगति है।

(मुण्डक उपनिषद् ३/१/२ में भी यह मंत्र इसी रूप मे है।)

८. "जिसमें समस्त देवगण भली-भाँति स्थित हैं, उस अविनाशी परम व्योम में सम्पूर्ण वेद स्थित हैं। जो मनुष्य उसको नहीं जानता वह वेदो के द्वारा क्या सिद्ध करेगा। किन्तु जो उसको जानते हैं वे सम्यक् प्रकार से उसी मे स्थित हैं।"

व्याख्या—वेदो मे परब्रह्म परमात्मा, सृष्टि का विकास तथा परमात्म ज्ञान प्राप्त करने की समस्त विधियां दी गई हैं। इनमे परा और अपरा दोनो प्रकार की विद्याएँ है जिनका उद्देश्य उस परमात्मा की प्राप्ति है। वही पराविद्या अर्थात् ज्ञान है। वही विद्या है। दूसरी अविद्या अर्थात् अपरा विद्या है। इन दोनो को वेदो के द्वारा जाना जा सकता है। इन्हे जानकर जो परब्रह्म को उपलब्ध हो जाता है वही ज्ञानी है तथा वही मुक्त होकर उस परमानद का भोग करता है। इस प्रकार वेदो का यही एक

मात्र प्रयोजन है कि सम्पूर्ण सृष्टि के रहस्यों को जानकर मोक्ष प्राप्त करे। यदि वेदों से ज्ञान प्राप्त करके भी जो मुक्त नहीं हो सके उसके लिए वेदों का कोई प्रयोजन ही नहीं है। केवल वेदों का ज्ञाता होने से मोक्ष प्राप्ति नहीं होती। जो वेदों को कंठस्थ कर लेते हैं, नित्य उनका पारायण करते हैं, वेदों की सम्यक् व्याख्या कर देते हैं, उन पर प्रवचन एवं शास्त्रार्थ कर लेते हैं किन्तु उनके द्वारा बताई गई विधि से ज्ञान प्राप्त नहीं कर लेते तब तक वेदों का प्रयोजन ही सिद्ध नहीं होता। पुस्तकीय ज्ञान का होना पर्याप्त नहीं है। वेद का अर्थ ही ज्ञान है। परमात्मा के वास्तविक स्वरूप को जान लेना यही उसका प्रयोजन है। जो इसे जान लेता है कि वही एक मात्र परमात्मा समस्त सृष्टि का स्वामी है, सभी देवतागण इसी में स्थित हैं, उसी में समस्त वेद (ज्ञान) स्थित हैं, वही उसकी सिद्धि है जिसे जानकर वह उसी परब्रह्म में नित्य स्थित रहता है। जो यह नहीं जान पाया तो वेद (पुस्तकों) को पढ़ने से उसको और क्या सिद्ध हो सकता है, अर्थात् अन्य कोई प्रयोजन सिद्ध नहीं हो सकता। भाव यह है कि शास्त्रों से केवल मार्ग मिलता है। चलना स्वयं को ही पड़ेगा। जो नक्शा देखकर केवल मार्ग ज्ञात कर लेता है किन्तु पहुँचने के लिए नक्शे ही पर्याप्त नहीं हैं। स्वयं को उनके आधार पर चलना ही पड़ेगा तभी गन्तव्य तक पहुँचा जा सकता है। परमात्म ज्ञान के सिवा अन्य कोई ज्ञान उसे शाँति एवं आनंद नहीं दे सकता अत: उसे प्राप्त कराना ही सभी शास्त्रों का ध्येय है।

९. **"छन्द, यज्ञ, क्रतु आदि नाना प्रकार के व्रत तथा और भी जो कुछ भूत, भविष्य और वर्तमान रूप से वेद वर्णन करते हैं, इस सम्पूर्ण जगत् को प्रकृति का अधिपति परमेश्वर इस भूत समुदाय से रचता है तथा दूसरा (जीवात्मा) उस प्रपंच में माया के द्वारा भली-भांति बंधा हुआ है।"**

व्याख्या—यह सम्पूर्ण सृष्टि जिसमें वेद मंत्र रूप छंद, यज्ञ, क्रतु (विशेष यज्ञ) नाना प्रकार के व्रत, शुभ कर्म, सदाचार, उनके नियम तथा जो भी भूत, भविष्य तथा वर्तमान पदार्थ हैं जिनका वर्णन वेदों में है इन सबको वह प्रकृति का अधिष्ठाता परमेश्वर ही अपने अंशभूत भूत समुदाय से रचता है। इस भूत प्रपंच माया के द्वारा ज्ञानी पुरुषों के अतिरिक्त यह अज्ञानी जीवात्मा सदा बंधा रहता है। जब तक इसे अपने स्वामी परमेश्वर का ज्ञान नहीं हो जाता तब तक इस प्रकृति रूपी माया से छुटकारा नहीं पा सकता।

१०. "माया तो प्रकृति को समझना चाहिए और मायापति महेश्वर को समझना चाहिए। उसी के अंगभूत कारण कार्य समुदाय से यह सम्पूर्ण जगत् व्याप्त हो रहा है।"

व्याख्या—आरम्भ में एक ही परब्रह्म की सत्ता थी। इसमें उसकी शक्ति का भी जागरण नही था। सभी शक्तियाँ शान्तावस्था से विद्यमान थीं। जब उसकी शक्तियों का जागरण हुआ तो उसकी परस्पर क्रिया प्रतिक्रिया स्वरूप ही इस समस्त जगत् का विस्तार हुआ। यह जगत् उसकी शक्ति का प्रदर्शन मात्र है। इसी शक्ति को 'प्रकृति' कहा गया है जिससे सृष्टि की रचना हुई है तथा वह शक्तिमान उस प्रकृति का भी स्वामी है जो सर्वत्र उसमे व्याप्त है। उसके विना वह शक्ति कार्य नही कर सकती। जिस प्रकार हाइड्रोजन और ऑक्सीजन को मिलाने में विद्युत की आवश्यकता होती है उसमें विद्युत का कोई कार्य नही है, उसकी उपस्थिति मात्र पर्याप्त है जिसे 'केटेलिटिक एजेण्ट' कहते हैं उसी प्रकार प्रकृति की सक्रियता उसकी स्वामी शक्ति ब्रह्म पर ही निर्भर है। शक्ति और शक्तिमान सदा अभिन्न हैं। इनको अलग नही किया जा सकता। जिस प्रकार नृत्य और नृत्यकार, गीत और गीतकार भिन्न नही हैं उसी प्रकार प्रकृति और परमात्मा अलग नही हो सकते। यही प्रकृति उस परमात्मा की माया है जिसका निरन्तर विस्तार होता जाता है। अत. इस सृष्टि में जो कुछ दिखाई देता है तथा जो कुछ हो रहा है वह सब इस माया रूपी प्रकृति का ही खेल है। परमात्मा केवल इसके भीतर व्याप्त है।

११. जो अकेला ही प्रत्येक योनि का अधिष्ठाता हो रहा है, जिसमे यह समस्त जगत् प्रलय काल में विलीन हो जाता है और सृष्टि काल में विविध रूपो में प्रकट भी हो जाता है, उस सर्वनियन्ता, वरदायक, स्तुति करने योग्य परमदेव परमेश्वर को तत्त्व से जानकर मनुष्य निरन्तर बनी रहने वाली इस परम शान्ति को प्राप्त हो जाता है।"

व्याख्या—इस सम्पूर्ण सृष्टि के प्रत्येक पदार्थ के मूल मे वही एक ब्रह्म तत्त्व है इसलिए वही सबकी योनि अथवा गर्भ है जिससे इन पदार्थों का विकास हुआ है तथा वही सबका अधिष्ठाता है। यह समस्त जगत् प्रलय काल मे उसी मे विलीन हो जाता है तथा जब सृष्टि रचना का समय आता है तो वही विभिन्न रूपो मे प्रकट होता है। उससे भिन्न कोई भी अन्य तत्त्व नही है। ऐसा परमेश्वर ही स्तुति करने योग्य है तथा उसी

को तत्त्व से जानकर परम शाँति का अनुभव होता है। सृष्टि में सब कुछ जानकर भी तथा सब कुछ प्राप्त करके भी इस जीवात्मा को जिस परम-शाँति का अनुभव नहीं होता वह उस परमात्मा को जानने से प्राप्त होता है। इसलिए केवल उसी को जानने का प्रयत्न करना चाहिए। गीता में इसी को शाश्वती शाँति, परा शाँति आदि कहा गया है। यही परम निर्वाण की स्थिति है।

१२. "जो रुद्र, इन्द्र आदि देवताओं को उत्पन्न करने वाला और बढ़ाने वाला है तथा सबका अधिपति और महर्षि (महान् ज्ञानी, सर्वज्ञ) है। जिसने सबसे पहले उत्पन्न हुए हिरण्यगर्भ को देखा था, वह परमदेव परमेश्वर हम लोगों को शुभ बुद्धि से युक्त करे।"

व्याख्या—यह मंत्र इसी उपनिषद् में ३/४ में आ चुका है जिसकी व्याख्या पूर्व में की जा चुकी है।

१३. जो समस्त देवों का अधिपति है, जिसमें समस्त लोक सब प्रकार से आश्रित हैं, जो इस दो पैर वाले और चार पैर वाले समस्त जीव समुदाय का शासन करता है, उस आनन्द स्वरूप परमदेव को हम हविष्य अर्थात् श्रद्धा भक्ति पूर्वक भेंट समर्पण करके पूजा करें।"

व्याख्या—वही एक परब्रह्म है जो समस्त लोकों के अधिपति हैं तथा सब लोक उसी पर आश्रित हैं। वह सभी प्राणियों पर शासन करता है। अतः उसी की श्रद्धा पूर्वक पूजा करनी चाहिए क्योंकि वही परम कल्याण कारी एवं मोक्ष दाता है।

१४. "जो सूक्ष्म से भी अत्यन्त सूक्ष्म, हृदय गुहा रूप गुह्य स्थान के भीतर स्थित, अखिल विश्व की रचना करने वाला, अनेक रूप धारण करने वाला, तथा समस्त जगत् को सब ओर से घेर रखने वाला है। उस एक कल्याण स्वरूप परमेश्वर को जानकर मनुष्य सदा रहने वाली शान्ति को प्राप्त होता है।"

व्याख्या—इस मन्त्र का भी भाव पूर्ववत् ही है कि ऐसे परब्रह्म परमेश्वर को जानकर ही जीवात्मा मोक्ष रूपी शाश्वत शाँति को प्राप्त होता है।

१५. "वही समय पर समस्त ब्रह्माण्डों की रक्षा करने वाला, समस्त जगत् का अधिपति, समस्त प्राणियों में छिपा हुआ है जिसमें वेदज्ञ महर्षिगण और देवता लोग भी ध्यान द्वारा संलग्न हैं, उस परमदेव परमेश्वर को इस प्रकार जानकर मनुष्य मृत्यु के बन्धनो को काट डालता है।"

व्याख्या—वह परब्रह्म परमेश्वर ही समस्त ब्रह्मांडों की रक्षा करने वाला है तथा सभी का स्वामी है। वह समस्त प्राणियो के भीतर सूक्ष्म रूप से विद्यमान है। वेदज्ञ महर्षि गण तथा देवता लोग भी इसी का ध्यान करते हैं। उसे जानकर ही मनुष्य जन्म-मृत्यु के बन्धन को काट डालता है अर्थात् इससे सदा के लिए मुक्त हो जाता है।

१६. "कल्याण स्वरूप उस एक परमेश्वर को मक्खन के ऊपर रहने वाले सारभाग की भाँति अत्यन्त सूक्ष्म और समस्त प्राणियों में छिपा हुआ जानकर तथा समस्त जगत् को सब ओर से घेर कर स्थित हुआ जानकर मनुष्य सब बन्धनो से छूट जाता है।"

व्याख्या—वह परब्रह्म परमात्मा जगत् के सभी पदार्थों में सूक्ष्म रूप से सार तत्त्व की भाँति विद्यमान है। उसे जानकर मनुष्य सभी प्रकार के बन्धनों से मुक्त हो जाता है। सभी बन्धन अज्ञान से ही है। अतः परमात्म ज्ञान से इनकी असत्यता ज्ञात हो जाने से भ्रम निवारण की भाँति छूट जाते हैं। इनको तोड़ने के लिए कोई विशेष प्रयत्न नही करना पड़ता।

१७. "यह जगत् कर्ता महात्मा परमदेव परमेश्वर सर्वदा, सब मनुष्यों के हृदय में सम्यक् प्रकार से स्थित है तथा हृदय से बुद्धि से, मन से, ध्यान में लाया हुआ प्रत्यक्ष होता है। जो साधक इस रहस्य को जान लेते हैं वे अमृत स्वरूप हो जाते है।"

व्याख्या—वह परमात्मा यद्यपि सब स्थानो में सबके भीतर स्थित है किन्तु उसे केवल ध्यान द्वारा ही प्रत्यक्ष किया जा सकता है। किसी भी क्रिया से अथवा वाह्य रूप से उसे प्रत्यक्ष नही किया जा सकता। इसलिए जो साधक उस परब्रह्म परमात्मा की प्रत्यक्ष अनुभूति करना चाहते हैं उसके लिए एक ही विधि ध्यान है। जो ध्यान के इस रहस्य को जानकर उसमें विधिवत् प्रवेश कर जाता है वह निश्चित ही उसे जान लेता है इसमे

कोई संशय नहीं है। जिस-जिस ने जाना है वह ध्यान द्वारा ही जाना है तथा उसे जानकर ही जन्म-मृत्यु के चक्र से बाहर होकर अमृत (अमर) स्वरूप हो जाता है। उसे बिना जाने कोई भी विधि उसे मुक्त नहीं करा सकती।

१८. "जब अज्ञान रूप अन्धकार का सर्वथा अभाव हो जाता है उस समय अनुभव में आने वाला तत्त्व न दिन है न रात है, न सत् है न असत् है। एक मात्र विशुद्ध कल्याणमय शिव ही है। वह सर्वथा अविनाशी है। वह सूर्याभिमानी देवता का भी उपास्य है तथा उसी से पुरातन ज्ञान फैला है।"

व्याख्या—वह परम तत्त्व ऐसा है जिसकी प्रत्यक्ष व्याख्या नहीं दी जा सकती क्योंकि वह विचित्र ही प्रकार का है। इसलिए उसे अद्वितीय कहा गया है। वैसा दूसरा कुछ है ही नहीं जिससे उसकी तुलना की जा सके। इसलिए जिन्होंने उसे जाना है वे मौन हो गये तथा जिन्होंने व्याख्या दी है वह भी संकेत मात्र है। उसके वास्तविक स्वरूप का वर्णन किया ही नहीं जा सकता। इस मंत्र में भी थोड़ा संकेत ही दिया गया है। वह अव्यक्त है। अनभिव्यक्त है। प्रकाश उसकी अभिव्यक्ति है। प्रकाश के सापेक्ष ही अन्धकार है किन्तु वह प्रकाश के भी पूर्व का रूप है अतः वहाँ प्रकाश नहीं है और प्रकाश नहीं होने से अन्धकार की कल्पना वहाँ नहीं है। प्रकाश और अन्धकार न होने से दिन और रात की भी कल्पना नहीं की जा सकती। वह सूर्य का भी उपास्य है। सूर्य भी उसकी अभिव्यक्ति है। वह विशुद्ध कल्याणकारी शिव है। उसका अनुभव तब होता है जब अज्ञान रूपी अन्धकार का सर्वथा अभाव हो जाता है। वह अज्ञान के कारण ही प्रत्यक्ष नहीं हो रहा है। यही उसका आवरण बन गया है। जो इस आवरण को हटा देता है उस निर्मल बुद्धि वाले को वह प्रत्यक्ष होता है। उस तत्त्व का बोध हो जाने पर समस्त भ्रान्तियाँ, संदेह आदि गिर जाते हैं तथा व्यक्ति पूर्ण ज्ञान को उपलब्ध हो जाता है। ज्ञान का वही आदि स्रोत है। वह सत् और असत् से भी परे है। सत् और असत् भी उसकी अभिव्यक्ति के बाद ही कहा गया है।

१९. "इस परमात्मा को न तो ऊपर से, न इधर-उधर से और न बीच से ही भली-भाँति पकड़ सकता है। महान् यश जिसका नाम है उसकी कोई उपमा नहीं है।"

व्याख्या—वह परब्रह्म इतना महान एवं व्यापक है तथा सर्वत्र

व्याप्त है कि उसका कोई ओर छोर ही नही है तो उसे किसी भी कोने से नही पकड़ा जा सकता। वह एक ऐसा महान यशस्वी है जिसकी अन्य किसी से उपमा ही नहीं दी जा सकती फिर उसका वर्णन किस प्रकार किया जा सकता है। वह न पदार्थ रूप है, न व्यक्ति रूप। इसलिए उसे छूना, देखना, पकड़ना आदि असंभव है। वह केवल अनुभूति द्वारा ही ग्राह्य होता है। ग्राह्य होने के बाद उसकी अभिव्यक्ति वाणी द्वारा नही की जा सकती।

२०. "इस परब्रह्म परमात्मा का स्वरूप दृष्टि के सामने नहीं ठहरता। इस परमात्मा को कोई भी आंखों से नहीं देख सकता। जो साधकगण इस हृदय में स्थित अन्तर्यामी परमेश्वर की भक्ति युक्त हृदय से तथा निर्मल मन के द्वारा इस प्रकार जान लेते हैं वे अमृत स्वरूप हो जाते हैं।"

व्याख्या—यह परब्रह्म तत्व इतना विशाल, व्यापक तथा सूक्ष्म है कि उसे आँखों से नही देखा जा सकता। आँखों से स्थूल एवं सीमित को ही देखा जा सकता है। यह किसी भी इन्द्रिय द्वारा ग्राह्य नही है इसलिए इन्द्रियों से इसे देखने का दुराग्रह ही छोड देना चाहिए। मार्क्स इसे टेस्ट-ट्यूब में बन्द करके देखना चाहता है। यदि वह उसमें बन्द हो गया तो वह परम शक्ति रूप न होकर पदार्थ ही होगा। उसका अनुभव ध्यान की गहराई में ही होता है किन्तु वह दृष्टि के सामने ठहरता नही। थोडी-सी झलक मात्र मिलती है। उसका पूर्ण स्वरूप कभी भी स्पष्ट नही होता। उसका यह अनुभव भक्ति युक्त हृदय से तथा निर्मल मन द्वारा ही हृदय में होता है। मलिन मन, विचारो, भावनाओ आदि से भरा मन उसको कभी भी प्रयत्क्ष नही कर सकता। ऐसी स्थिति पैदा करना मनुष्य के अधिकार में है फिर भी उसका प्रत्यक्ष होना उसी की अनुकम्पा पर निर्भर है पूर्ण समर्पण तथा अहंकार त्याग से ही उसकी अनुकम्पा होकर वह प्रत्यक्ष होता है। इसके लिए धैर्य पूर्वक प्रतीक्षा करना आवश्यक है। जो इस स्थिति को प्राप्त कर उसका थोडा सा भी अनुभव कर लेते है वे ही अमृत तत्त्व को उपलब्ध हो जाते हैं।

२१. "हे रुद्र! (संहार करने वाले देव) तू अजन्मा है, यो समझ कर कोई जन्म मरण के भय से डरा हुआ मनुष्य तेरी शरण लेता है, अतः तेरा जो दाहिना मुख है (कल्याणमय मुख) उसके द्वारा तू सर्वदा मेरी जन्म-मृत्यु रूप भय से रक्षा कर।"

व्याख्या—जन्म और मृत्यु इस जीवन के दो छोर है जो संयुक्त हैं। इन दोनों को अलग नहीं किया जा सकता। जिसका जन्म है उसकी मृत्यु अवश्यंभावी है। तथा जिसकी मृत्यु है उसका जीवन भी अवश्यं-भावी है मृत्यु ही नये जीवन का आधार है तथा जीवन के लिए मृत्यु अनिवार्य है। जिस प्रकार दिन भर श्रम करने के बाद रात्रि में नींद आवश्यक है तथा नींद के कारण नये दिन में ताजगी का अनुभव होता है उसी प्रकार अस्सी या सौ वर्ष के जीवन काल में किये गये श्रम की थकान मिटाने के लिए मृत्यु आवश्यक है। इसी से पुनः नये जीवन में ताजगी का अनुभव होता है। इस प्रकार बार-बार जीवन और मृत्यु के कारण ही जीवात्मा अच्छे-बुरे, कटु मृदु अनुभवों का संचय करके विकास की प्रक्रिया में निरन्तर आगे बढ़ता जाता है। इसलिए यह बार-बार जन्म एवं मृत्यु अभिशाप नहीं बल्कि जीवात्मा की उन्नति के लिए एक वरदान है। प्रकृति ने इसकी व्यवस्था अकारण नहीं की है। इसके पीछे महान् उद्देश्य छिपा है। जिस प्रकार एक कक्षा में उत्तीर्ण होने पर छात्र को उससे विदाई दी जाती है तथा अगली कक्षा में प्रवेश लेता है तथा निरन्तर इस प्रकार कक्षाएँ पार करता हुआ ही एक दिन उसे विद्यालय भी छोड़कर कर्म क्षेत्र से प्रवेश करना होता है उसी प्रकार प्रत्येक जीवन एक कक्षा है जिससे उत्तीर्ण होकर वह अगले जीवन की कक्षा में प्रवेश लेता है। इस प्रकार बार-बार पैदा होकर उन जीवनों से प्राप्त अनुभवों के परिपक्व होने पर वह विद्यालय छोड़ने के समान इस जन्म मृत्यु रूपी चक्र से सदा के लिए छूट जाता है तथा अमृतत्व को प्राप्त हो जाता है। यह मृत्यु अज्ञानी को ही भयभीत करती है। ज्ञानी इस भय से सदा के लिए मुक्त हो जाते हैं। यदि कोई विद्यार्थी विद्यालय छोड़ने के भय से कक्षा से उत्तीर्ण ही न हो तो इसे उसकी उन्नति नहीं कही जा सकती इसी प्रकार जन्म एवं मृत्यु को प्रगति की स्वाभाविक प्रक्रिया समझ कर इसका भय नहीं होना चाहिए कि मृत्यु पर सब कुछ नष्ट हो जाएगा। मृत्यु पर नष्ट कुछ भी नहीं होता बल्कि प्रगति में एक कदम आगे बढ़ता है। किन्तु अज्ञानावस्था में मनुष्य इससे भयभीत रहता है कि सब कुछ छीना जा रहा है। जिसकी जितनी अधिक वासना, अहंकार, मोह आदि होता है वह उतना ही अधिक भय-भीत होता है। इसलिए इस मंत्र में रुद्रदेव से प्रार्थना की गई है कि मृत्यु के भय से तू हमारी रक्षा कर क्योंकि जो इस जन्म मरण के भय से भयभीत हैं वे ही रुद्रदेव की शरण में जाते हैं। रुद्रदेव का एक मुख संहारक है तो दूसरा परम कल्याणकारी शिव रूप भी है। मृत्यु को जीत कर

जीवात्मा उस परम कल्याण रूप शिवत्व को प्राप्त हो जाता है। परमात्म ज्ञान प्राप्ति के बाद ही वह इस मृत्यु पर विजय प्राप्त कर सकता है तभी उसका यह भय अन्तिम रूप से दूर होता है।

२२. *हे रुद्रदेव ! हम लोग नाना प्रकार की भेंट देकर सदा ही तुझे बुलाते रहते है। अत. तू कुपित होकर न तो हमारे पुत्रों मे और न पौत्रों में, न हमारी आयु में, न हमारी गौओं मे, न हमारे घोड़ों में ही किसी प्रकार की कमी कर, न हमारे वीर पुरुषों का भी नाश कर।"*

व्याख्या—यज्ञादि कर्मों द्वारा हविष्य आदि की भेंट देकर जब किसी देवता का आह्वान किया जाता है तो वे देवता उपस्थित होकर उचित सम्मान की अपेक्षा करते हैं तथा बार-बार उनको बुलाने पर वे कुपित भी हो जाते हैं जिससे सदा अनिष्ट की शका बनी रहती है। देवता स्वय कामनाओ एवं वासनाओं से मुक्त न होने के कारण वे प्रसन्न एवं कुपित-भी हो सकते हैं, वे अनिष्ट भी कर सकते हैं। अतः इस मंत्र में इसके प्रति भी सावधानी वर्तते हुए ऋषिगण उस रुद्रदेव से प्रार्थना करते है कि हम-बार-बार तुम्हे भेंट देकर बुलाते रहते है, यह भी हो सकता है कि हमारे इस यज्ञ के विधि विधान में त्रुटि भी रह गई हो, यह भी हो सकता है कि तुम्हारा उचित सम्मान नही किया गया हो तो भी हमारी भूलो को क्षमा करते हुए हमारा तथा हमारे परिवार का किसी प्रकार का अनिष्ट न कर। भाव यही है कि यज्ञादि कर्मों को विधि-विधान से न करने पर देवता कुपित होकर अनिष्ट भी करते हैं। अतः इसके लिए पूर्ण सावधानी वर्तना आवश्यक है अन्यथा लाभ के बजाय हानि ही अधिक होती है।

॥ चौथा अध्याय समाप्त ॥

पाँचवां अध्याय

१. जिस ब्रह्मा से भी श्रेष्ठ, छिपे हुए, असीम और परम अक्षर परमात्मा में विद्या और अविद्या दोनों स्थित हैं वही ब्रह्म है। यहाँ विनाशशील जड़वर्ग तो 'अविद्या' नाम से कहा गया है और अविनाशी वर्ग (जीव समुदाय) ही 'विद्या' नाम से कहा गया है तथा जो विद्या और अविद्या पर शासन करता है वह इन दोनों से अन्य है।"

व्याख्या—इस सम्पूर्ण सृष्टि में दो प्रकार के वर्ग हैं एक जड़ है तथा दूसरा चेतन। इस ग्रंथ में इस समस्त जड़ वर्ग को ही 'प्रकृति' कहा गया है जो विनाशशील है। यही अविद्या माया है जो जीवात्मा को भोगों की ओर आकर्षित करती है। दूसरा वर्ग चेतन का है जिसे 'जीवात्मा' कहा जाता है। वह अविनाशी है। वेदों के अनुसार ईश्वर, जीव एवं प्रकृति तीनों ही अनादि तत्त्व हैं। यह चेतन जीवात्मा ही 'विद्या' है। इन दोनों विद्या, अविद्या अर्थात् जड़वर्ग एवं चेतन जीव समुदाय की उत्पत्ति ब्रह्मा से ही मानी जाती है। किन्तु ब्रह्मा से भी परे एक श्रेष्ठ तत्त्व है जो इन सबका कारण है, असीम है, तथा परम अक्षर है—जिसका कभी क्षरण नहीं होता, वही परब्रह्म परमात्म तत्त्व है। यह विद्या तथा अविद्या उसी में स्थित हैं तथा वही इन दोनों का स्वामी है जो दोनों पर शासन करता है। वह पर-ब्रह्म इन दोनों से अन्य तत्त्व है।

इसी उपनिषद के ४/५ की व्याख्या में बताया गया है कि यह प्रकृति अपरा तथा परा के नाम से दो प्रकार की है। अपरा प्रकृति जड़ है तथा परा प्रकृति चेतन है जो जीव रूप है। इन्हीं दोनों को इस मंत्र में अविद्या तथा विद्या कहा गया है तथा इन दोनों से भिन्न परमात्म तत्त्व है जो इन दोनों पर शासन करता है अर्थात् दोनों उसी के नियंत्रण में हैं व उसी में स्थित हैं। वही सर्वोपरि तत्त्व है।

२. "जो अकेला ही प्रत्येक योनि पर, समस्त रूपों पर और

समस्त कारणों पर अधिपत्य रखता है, जो पहले उत्पन्न हुए कपिल ऋषि को सब प्रकार के ज्ञानों से पुष्ट करता है तथा उस कपिल को सबसे पहले उत्पन्न होते देखा था, वे ही परमात्मा हैं।"

व्याख्या—इस जगत में देव, पितर, मनुष्य, पशु, पक्षी, कीट, पतंग आदि जितनी भी योनियाँ हैं तथा प्रत्येक योनि मे विभिन्न रूप है तथा उनके जितने भी कारण तत्त्व हैं उन सब पर उसी एक परब्रह्म तत्व का आधिपत्य है। वे ही सांख्य शास्त्र के प्रवर्तक महर्षि कपिल मुनि को ज्ञान से परिपुष्ट करते हैं। वह परमात्मा उनसे भी पूर्व मे विद्यमान थे जिन्होने कपिल को भी उत्पन्न होते देखा था।

३. "यह परमदेव इस जगत क्षेत्र में एकोएक जाल को बहुत प्रकार से विभक्त करके उसका संहार भी कर देता है। वह महात्मा ईश्वर पुनः पहले की भाँति समस्त लोकपालों की रचना करके स्वयं सब पर आधिपत्य करता है।"

व्याख्या—वही ब्रह्म इस जगत जाल में जितने विविध प्रकार के रूप और आकृतियों से युक्त जाल है उसे इस प्रकार विभक्त करके इस सृष्टि की रचना करते हैं तथा प्रलयकाल में सबका संहार करके अपने में विलीन कर लेते है तथा पुन. पहले की ही भाँति लोकपालो की रचना करके इस सृष्टि का आरम्भ करते हैं तथा स्वयं इस सब पर आधिपत्य करते है भाव यह है कि सृष्टि की रचना और प्रलय बार-बार होता है।

४. "जिस प्रकार सूर्य अकेला ही समस्त दिशाओं को ऊपर, नीचे और इधर-उधर सब ओर से प्रकाशित करता हुआ देदीप्यमान होता है, उसी प्रकार वह भगवान, स्वामी बनने के योग्य परमदेव अकेला ही समस्त कारण रूप अपनी शक्तियों पर आधिपत्य करता है।"

व्याख्या—जिस प्रकार सूर्य अकेला ही चारो ओर प्रकाश फैलाता है उसी प्रकार वह एक ही परमात्मा इस सृष्टि की समस्त शक्तियों पर अकेला ही शासन करता है। भाव यह है कि सृष्टि का विकास विभिन्न शक्तियो से ही हुआ है। अतः सृष्टि का कारण वे शक्तियाँ ही हैं किन्तु इन शक्तियों की स्वतन्त्र सत्ता नही है। ये उस परब्रह्म की ही शक्तियाँ है जिनके वही एकमात्र स्वामी है।

५. "जो सबका परम कारण है और समस्त तत्वों की शक्ति रूप स्वभाव को पकाता है तथा जो समस्त पकाये जाने वाले पदार्थों को नाना रूपों में परिवर्तित करता है, तथा जो अकेला ही समस्त गुणों का जीवों के साथ यथायोग्य संयोग कराता है, तथा इस समस्त विश्व का शासन करता है, वह परमात्मा है।"

व्याख्या—वह परब्रह्म ही एक तत्व है जो समस्त जगत की उत्पत्ति के कारणों के भी कारण हैं। जगत की उत्पत्ति जिन तत्त्वों से हुई है उनका कारण विभिन्न प्रकार की शक्तियाँ हैं। यह परब्रह्म ही इन शक्तियों के स्वभावों को निश्चित करता है तथा शक्तियों के इन विभिन्न स्वभावों के कारण ही विभिन्न प्रकार के पदार्थ उत्पन्न होते हैं। इन पदार्थों तथा जीवों के गुणों का संयोग करता है एवं वही इन सबका अधिष्ठाता होकर इन पर शासन करता है। अतः जगत की रचना शक्तियों के गुण एवं स्वभाव से ही होती है जिसका एकमात्र स्वामी वही परब्रह्म है।

६. "वह (ब्रह्म) वेदों के रहस्यभूत उपनिषदों में छिपा हुआ है। वेदों के प्राकट्य स्थान उस परमात्मा को ब्रह्मा जानता है। जो पुरातन देवता और ऋषि लोग उसको जानते थे वे अवश्य ही उसमें तन्मय होकर अमृत रूप हो गये।"

व्याख्या—उस परब्रह्म का रहस्य क्या है, उसका स्वरूप कैसा है इसका पूर्ण वर्णन वेदों में है तथा उपनिषद वेदों का ही सारभूत रूप है अतः उसका रहस्य उपनिषदों में छिपा है। वेदों का ज्ञान किस प्रकार प्रकट हुआ, स्वयं परमात्मा ने ही इसको किस प्रकार प्रकट किया, उस परमात्मा को ब्रह्मा ही जानते हैं क्योंकि सभी ज्ञान उन्हीं से प्रकट हुआ है। ब्रह्मा के सिवा जो अन्य देवता एवं ऋषि लोग इसे जानते थे वे उस परमात्मा में तन्मय होकर उसी में लीन हो गये। भाव यह है कि परमात्मा के सत्य स्वरूप का ज्ञान उपनिषदों में संग्रहीत है। उसे जानकर मनुष्य उस परमात्मा को प्राप्त हो सकता है। उसे जानने का अन्य कोई उपाय नहीं है।

७. "जो गुणों से बंधा हुआ है वह फल के उद्देश्य से कर्म करने वाला जीवात्मा ही उस अपने किये हुए कर्म के फल का उपभोग करने वाला, विभिन्न रूपों में प्रकट होने वाला, तीन गुणों से युक्त और कर्मानुसार तीन मार्गों में गमन करने

वाला है। वह प्राणों का अधिपति (जीवात्मा) अपने कर्मों से प्रेरित होकर नाना योनियों में विचरता है।"

व्याख्या—इस मन्त्र मे जीवात्मा के स्वरूप एवं उसके कर्मों का वर्णन किया गया है कि यह जीवात्मा गुणो एवं कर्मों से बँधा हुआ है। पाँचवे मन्त्र में यह बताया गया है कि वह परमात्मा ही सब जीवों का गुणो एव कर्मों के साथ सयोग कराते है। इस संयोग के कारण ही यह जीवात्मा सत्त्व, रज एवं तम तीन गुणो से बंधा हुआ उन्ही के अनुसार तीनों प्रकार के कर्म करता है तथा उसके सभी कर्म सकाम होते हैं। वह फल प्राप्ति के उद्देश्य से ही कर्म करता है जिससे वह उन कर्मफलो का भोक्ता होकर विभिन्न योनियों मे जन्म ग्रहण करता हुआ तीन मार्गो से (देवयान) पितृ-यान तथा संसार का मार्ग) गमन करता है। यह जीवात्मा प्राणों का अधिपति है तथा कर्मों से प्रेरित होकर ही विभिन्न प्रकार की योनियों मे जन्म ग्रहण करता हुआ भटकता है। यही उसका संसार का मार्ग है। सत्त्व गुण वाला देवयान मार्ग से जाकर ब्रह्मलोक को प्राप्त होता है जहाँ से लौटता नही। वह ब्रह्मा के साथ ही मुक्त हो जाता है तथा रजोगुण वाला पितृयान मार्ग से स्वर्ग का अनुभव करता है तथा पुण्य क्षीण होने पर पुनः मृत्युलोक में आता है। ये तीन गुण प्रकृति के ही गुण हैं अत जीव प्रकृति के ही अधीन रहता है। जब वह प्रकृति से मुक्त होता है तभी उसकी मुक्ति होती है।

८. "जो अंगुष्ठ मात्र परिमाण वाला, सूर्य के समान प्रकाश स्वरूप तथा संकल्प और अहंकार से युक्त है, बुद्धि के गुण के कारण और अपने गुण के कारण ही सूजे की नोक के समान सूक्ष्म आकार वाला है ऐसा अपर (परमात्मा से भिन्न जीवात्मा) भी निःसन्देह ज्ञानियों द्वारा देखा गया है।"

व्याख्या—जीवात्मा का आकार अति सूक्ष्म एव अत्यन्त प्रकाश वाला है। हृदय में स्थित होने के कारण ही इसे अंगुष्ठ के आकार का कहा गया है अन्यथा अति सूक्ष्म है। यह संकल्प और अहकार से युक्त है। बुद्धि और गुणों के कारण ही यह साकार बन गया है जो निराकार से भिन्न हो गया है। सकल्प, अहकार एव गुणो को त्याग कर ही वह परमात्म स्वरूप हो जाता है। ऐसे जीवात्मा को ज्ञान प्राप्ति पर ही देखा जा सकता है। अज्ञानी इसे नही जान सकते।

९. "बाल की नोंक के सौवें भाग के पुनः सौ भागों में कल्पना

किये जाने पर जो एक भाग होता है वही जीव का स्वरूप समझना चाहिए और वह असीम भाव वाला होने में समर्थ है।"

व्याख्या—इस जीव का स्वरूप अति सूक्ष्म है। वह बाल के अग्रभाग के दस हजारवें भाग के बराबर है। इतना सूक्ष्म होते हुए भी वह असीम भाव वाला है। वह समस्त जड़ जगत में व्याप्त है। अहंकार के कारण ही वह अपनी भिन्न सत्ता मानने लग गया तथा बुद्धि के कारण उसमें संकल्पों का विकास हुआ जिससे वह परमात्मा से भिन्न हो गया अन्यथा वह परमात्म स्वरूप ही है। वह इन्हीं के कारण एक देशीय हो गया किंतु वह इसका त्याग करके पुनः असीम भाव वाला (परमात्मा) होने में समर्थ है। यदि वह समर्थ न होता तो कभी भी ब्रह्म स्वरूप को प्राप्त नहीं हो सकता था।

१०. **"यह जीवात्मा न तो स्त्री है न पुरुष है और न यह नपुंसक ही है। वह जिस-जिस शरीर को ग्रहण करता है उस उससे सम्बद्ध हो जाता है।"**

व्याख्या—जीवात्मा उस ब्रह्म की चैतन्य शक्ति है जो मन, बुद्धि और अहंकार से संयुक्त होने के कारण ही जीवात्मा कहलाता है। इसका स्त्री, पुरुष, नपुंसक आदि भेद नहीं होता। यह भेद केवल शरीरगत है। स्त्री और पुरुष के जिस प्रकार के अणु जिस विधि से संयुक्त होते हैं उसी के अनुसार स्त्री, पुरुष अथवा नपुंसक के शरीर का निर्माण होता है। जीवात्मा अपनी वासना के अनुसार जिस प्रकार का शरीर योग्य समझती है अथवा कर्मों के अनुसार जिस प्रकार का शरीर उनके भोग हेतु आवश्यक होता है वैसे ही शरीर में वह जीवात्मा प्रवेश करती है। शरीर का निर्माण स्त्री, पुरुष में पाये जाने वाले शुक्राणुओं द्वारा ही होता है जो पूर्णतः भौतिक संरचना मात्र है। हारमोन्स में परिवर्तन करके लिंग परिवर्तन भी किया जा सकता है तथा स्वयं के दृढ़ संकल्प से भी लिंग परिवर्तन सम्भव है क्योंकि शरीर भौतिक संरचना मात्र है। जीवात्मा शुद्ध शक्ति तत्त्व है जो समस्त प्राणियों में समान रूप से व्याप्त है। जीवों में जो वृत्तियों के कारण भेद होते हैं वे मनस्तल के हैं जो वासना, कामना, संस्कार आदि के कारण हैं। जीवात्मा के तल पर कोई भेद नहीं है। अहंता, ममता और आसक्ति जीवात्मा के स्वगुण हैं जो सबमें विद्यमान रहते हैं।

११ "संकल्प, स्पर्श, दृष्टि और मोह से तथा भोजन, जलपान और वर्षा के द्वारा प्राणियो के सजीव शरीर की वृद्धि और जन्म होते है। यह जीवात्मा भिन्न-२ लोकों मे कर्मानुसार मिलने वाले भिन्न-२ शरीरों को अनुक्रम से बार-२ प्राप्त होता रहता है।"

व्याख्या—शरीर का निर्माण पहले होता है फिर जीवात्मा अपने कर्मफलों के भोग हेतु जो शरीर उसके अनुकूल होता है, जिसे वह उसके माध्यम से भोग सके, उसे प्राप्त करती है। कौन-सा शरीर किस जीवात्मा के कर्मफलो के अनुसार अनुकूल है इसका निर्धारण कर्मों के देवता करते हैं तथा उस जीवात्मा को उसमे प्रविष्ट होने के लिए बाध्य किया जाता है। थियोसॉफी की भी यही मान्यता है तथा परामनोवैज्ञानिको द्वारा की गई खोजों के अनुसार भी यही निष्कर्ष निकलता है कि शिशु के जन्म के समय इस जीवात्मा को उपयुक्त शरीर में प्रवेश करने हेतु कर्मों के देवता द्वारा बाध्य किया जाता है। गीता में भी यही कहा गया है कि यह आत्मा पुराने वस्त्र की भाँति एक शरीर को त्याग कर नया शरीर धारण करती है। भाव यही है यह जीवात्मा इस शरीर का उपयोग अपने निवास के लिए करती हे अतः निवास तैयार होने पर ही वह उसमे प्रवेश करती है। यह जीवात्मा भी अपने कर्मफलो के भोग हेतु भिन्न-२ लोको मे भी जन्म लेती है तथा भोगों के अनुक्रम से यह बार-२ इस मृत्युलोक में भी जन्म धारण करती है।

इस मंत्र में शरीर निर्माण की भी प्रक्रिया बतलाई गई है। जिसका निर्माण भिन्न प्रकार से तथा स्वतंत्र रूप से होता है। गर्भाशय मे जिस भ्रूण का जन्म एव विकास होता है वह यद्यपि सजीव होता है क्योंकि यह जीवन हर छोटे-से-छोटे जीव में होता है तथा शरीर का भी प्रत्येक सैल जीवन्त होता है, किंतु जीवात्मा जो एक स्वतंत्र तत्त्व है वह शरीर के पूर्ण रूप से तैयार होने पर उसके जन्म के समय ही प्रवेश करती है। गर्भाशय में जिस सजीव शरीर का निर्माण होता है उसके लिए ये चार कारण अनिवार्य हैं। इनमें एक भी कारण नही होने पर गर्भाधान नही हो सकता। ये कारण है स्त्री-पुरुष का सकल्प युक्त मन, दोनों का स्पर्श (सहवास), दृष्टि (कामेच्छा) तथा पारस्परिक मोह। पुत्र-कामना मन के भीतर रहती है यही उनका संकल्प है, इसी कामना से सहवास किया जाता है, इसी कामना के कारण कामेच्छा जाग्रत होती है अन्यथा वह स्त्री की ओर दृष्टिपात ही नहीं करेगा तथा पारस्परिक संतान के प्रति मोह

जनित जिज्ञासा का होना अनिवार्य है। ये चारों सूक्ष्म तल पर विद्यमान रहते हैं जिससे सहवास द्वारा गर्भ धारण होता है तथा गर्भ में उस भ्रूण का विकास माँ के भोजन एवं जलपान द्वारा होता है। वह भ्रूण माँ से रस का पान करके ही विकसित होता है। वनस्पति का विकास वर्षा के जल से होता है। इसी से बीज फूट कर वृक्ष बनता है। वृक्ष को खुराक जड़ों द्वारा वर्षा के जल से ही मिलती है।

इस मंत्र में ध्यान देने योग्य यही है कि शरीर का जन्म एवं विकास भिन्न कारणों से होता है तथा भ्रूण में जीवात्मा नहीं होती किंतु वह शरीर सजीव होता है। जीवात्मा शरीर के पूर्ण रूपेण तैयार होने पर जन्म के समय ही प्रवेश करती है, इससे पूर्व नहीं। जब तक घर रहने योग्य न हो तब तक उसमें कोई रहता नहीं।

१२. "जीवात्मा अपने क्रियागुणों (कर्म संस्कारों के गुण) से तथा आत्मगुणों (शरीर के गुणों) से युक्त होने के कारण स्वगुणों (अहंता, ममता आदि) के वशीभूत होकर स्थूल और सूक्ष्म बहुल-से रूपों (शरीरों) को स्वीकार करता है। उनके संयोग का कारण दूसरा भी देखा गया है।"

व्याख्या—इस मंत्र में यह स्पष्ट किया गया है कि यह जीवात्मा किन कारणों से बार-२ स्थूल एवं सूक्ष्म शरीरों को धारण करता है। यह जीवात्मा तीन प्रकार के गुणों से संयुक्त है। अहंता और ममता, आसक्ति इसका स्वगुण है। इसी के कारण वह भोगों की वासना करता है तथा शरीर धारण करने की इच्छा करता है जिससे विभिन्न भोगों को वह भोग सके। यदि यही एक मात्र कारण होता तो वह अपनी इच्छानुसार शरीर ग्रहण कर सकता था किंतु वह पूर्व जन्म में किये गये कर्म-संस्कारों से भी युक्त रहता है। उन कर्म संस्कारों के गुणों के कारण उसकी रुचि विशेष प्रकार के भोगों में ही होती है। उन्हें भोगने के लिए उसे विशेष प्रकार के शरीर की आवश्यकता होती है। वह शरीर मनुष्य, पशु-पक्षी आदि किसी का भी हो सकता है। मनुष्य शरीर में भी उसे किस कुल, वातावरण, माँ-बाप आदि के शरीर में जन्म लेना है इसका निर्धारण उसके कर्मों के अनुसार होता है। इसमें वह स्वतंत्र नहीं है। इसका चयन कोई दूसरा ही करता है। इसका निर्धारण कर्मों के देवता करते हैं जैसा पूर्व मंत्र में बताया गया है। इन गुणों को क्रिया-गुण कहते हैं जो उसने पूर्व-जन्म में की गई क्रियाओं के द्वारा संस्कार रूप से अर्जित किये हैं। ये संस्कार ही

इस जीवात्मा के अर्जित गुण बन जाते है। इन गुणो की समाप्ति भोगने से ही होती है तथा इन्ही के भोग हेतु उसे एक निश्चित शरीर धारण करने को बाध्य किया जाता है। उस जीवात्मा का तीसरा गुण आत्मगुण है। मन, बुद्धि, इंद्रिय तथा पंचभूत ये शरीर के गुण है। विभिन्न जन्मों के कारण यह जीवात्मा इन शरीर के गुणो से तादात्म्य कर लेता है जिससे वह पुनः नये शरीर की कामना करता है। इन तीन गुणों से युक्त होने के कारण ही इस जीवात्मा को भिन्न-२ शरीरों को धारण करना पड़ता है। ये शरीर स्थूल भी होते हैं तथा प्रेत, पितर आदि योनियों मे सूक्ष्म शरीर होते हैं। इस प्रकार जन्म के लिए शरीर धारण करने मे वह स्वतंत्र नही है। उसके निर्णायक उस परमात्मा द्वारा नियोजित देवता हैं जो उपयुक्त शरीर के साथ उस जीवात्मा का सम्बंध जोड़ता है। ऋषिगण कहते हैं कि यह हमने प्रत्यक्ष देखा है।

> १३. "दुर्गम संसार के भीतर व्याप्त, आदि-अन्त से रहित, समस्त जगत् की रचना करने वाले, अनेक रूपधारी तथा समस्त जगत् को सब ओर से घेरे हुए एक (अद्वितीय) परमेश्वर को जानकर मनुष्य समस्त बन्धनों से मुक्त हो जाता है।"

व्याख्या—मंत्र १२ मे बताये गये तीनों गुण (स्वगुण, क्रियागुण तथा आत्मगुण) ही जीवात्मा का बंधन हैं जिससे उसे बार-२ विभिन्न योनियों एवं लोकों में विभिन्न प्रकार के शरीर धारण करने पड़ते है। जब वह इन तीनों से मुक्त हो जाता है तभी उसकी मुक्ति होकर वह परब्रह्म रूप शुद्ध तत्त्व को उपलब्ध हो जाता है। ये ही गुण उस जीवात्मा के विकार है जो ज्ञान रूपी अग्नि में तप कर ही अलग होते हैं अन्य कोई उपाय नही है। जब यह जीवात्मा उस परम श्रेष्ठ परमात्मा को साक्षात् कर लेता है तभी वह इन गुणों को त्यागकर इनसे सदा के लिए मुक्त हो जाता है। जीवात्म अज्ञान के कारण ही इनसे बंधा हुआ रहता है। परम ज्ञान की प्राप्ति के बाद ये क्षुद्र वासनाएं अपने आप छूट जाती हैं। इसी को 'कैवल्य' या 'मोक्ष' कहा गया है। इनके छूट जाने मे वह अपना शुद्ध स्वरूप प्राप्त कर लेता हैं।

> १४. "श्रद्धा और भक्ति के भाव से प्राप्त होने योग्य, आश्रय रहित कहे जाने वाले तथा जगत् की उत्पत्ति और संहार करने वाले कल्याण स्वरूप, सोलह कलाओ की रचना करने वाले परमेश्वर को जो साधक जान लेते हैं वे शरीर को सदा

के लिए त्याग देते हैं—जन्म-मृत्यु के चक्कर से छूट जाते हैं।"

व्याख्या—जो साधक अपनी साधना द्वारा उस परमेश्वर को तत्त्व से जान लेता है वह सदा के लिए इन शरीरों को धारण करने से मुक्त हो जाता है क्योंकि उसकी वासनाएँ समाप्त हो जाने से वे तीनों गुण अपना प्रभाव नहीं दिखा सकते। इस ज्ञानाग्नि में इनके भस्म होने का यही अर्थ है। उस परमात्मा को प्राप्ति का भी उपाय बतलाया गया है कि वह श्रद्धा और भक्ति भाव से प्राप्त होते हैं। अन्य किसी क्रिया काण्ड से प्राप्त नहीं होते।

॥ पाँचवा अध्याय समाप्त ॥ ५ ॥

छठा अध्याय

१. "कितने ही बुद्धिमान लोग स्वभाव को जगत् का कारण बताते हैं, उसी प्रकार कुछ दूसरे लोग काल को जगत् का कारण बताते हैं। वास्तव में वे लोग मोहग्रस्त हैं। (अत: वास्तविक कारण को नहीं जानते।) वास्तव में तो परमदेव परमेश्वर की समस्त जगत् में फैली हुई महिमा है जिसके द्वारा यह ब्रह्म चक्र घुमाया जाता है।"

व्याख्या—जगत की उत्पत्ति का जैसा वैज्ञानिक वर्णन वेद, उपनिषद आदि ग्रन्थों में मिलता है वैसा अन्य किसी ग्रन्थ में नहीं मिलता। कुछ विद्वान तो इसके वैज्ञानिक रहस्य को जान ही नहीं पाये। किसी ने कह दिया यह सृष्टि किसी ने नहीं बनाई, यह अनादि है, इसका सृष्टा कोई नहीं है, किसी ने वस्तुओं के स्वभाव को ही कारण बता दिया, किसी ने काल को कारण बता दिया, किसी ने कह दिया इसे परमात्मा ने छ: दिन में बना कर रख दी, किसी ने कह दिया कि यह सृष्टि कैसे बनी, इसको जानने से लाभ ही क्या है। जैसे बननी थी बन गई तुम तो अपने दु:खों का इलाज करवा लो, बस यही पर्याप्त है। बीमारी के कारणों का पता

लगाये बिना ही इलाज की प्रक्रिया में लग गये इसलिए उससे मरीज का स्वस्थ होना तो दूर रहा वह नई-नई बीमारियो का शिकार हो गया। ऐसे ही डाक्टरो को नीम हकीम कहा जाता है जो तथ्यों को, कारणो को जाने बिना ही पुस्तकों मे लिखी दवाएँ बेचते रहते हैं। स्वयं के विवेक का उपयोग नही करते। वे ही समाज में जहर घोल कर अपने ही ज्ञान को श्रेष्ठ बताने का दुराग्रह मात्र कर रहे है जिससे समाज स्वस्थ होने के बजाय और दूषित हुआ है। जो जगत का कारण स्वभाव को बतलाते है वे यह तर्क देते हैं कि पदार्थों में जो स्वाभाविक शक्ति है जैसे अग्नि का स्वभाव जलाना है, तथा उसमें प्रकाश शक्ति है, जल का स्वभाव शीतलता है, इसी प्रकार सभी पदार्थों के स्वभाव से ही इसकी रचना हुई है। जो काल को कारण मानते हैं उनका तर्क यह है कि सभी कार्य विशेष समय पर ही होते है। उससे पूर्व उसे किया नही जा सकता। जैसे वृक्ष पर समय आने पर ही फल लगते हैं, फसल समयपर ही पकती है, बालक का जन्म नौ महीने में ही होता है, आठ वर्ष की उम्र मे ही दाँत निकलते हैं, चौदह वर्ष की उम्र में ही यौन भावना का उदय होता है, गर्भाधान ऋतु काल मे ही होता है आदि। इसी काल के महत्त्व को बताने के लिए कहा गया है, 'माली सींचे सौ घडा, ऋतु आये फल होय।' चाहे कोई कितना ही प्रयत्न कर लेवे समय आने पर ही उसका लाभ मिलता है।

इस मन्त्र मे ऋषि कहते है कि ऐसे सभी विद्वान मोह ग्रस्त है। उन्हें जगत् के कारणों का कुछ पता नही है किन्तु अपनी मान्यता, संकीर्णता तथा अहंकार वश अपने ही मत एवं मान्यता को श्रेष्ठ बताने हेतु छः अंधों द्वारा देखे गये हाथी के समान उसी रूप का वर्णन करते हैं जैसा उनको दिखाई दिया। अपने पूर्ण ज्ञान के अभाव मे मोहग्रस्त होकर ही वे ऐसा कहते है। वे पूर्ण सत्य से अनभिज्ञ हैं जो इसके वास्तविक कारण को नही जानते।

ऋषि कहता है कि वही एक परमतत्त्व इस सृष्टि के रूप मे अभिव्यक्त हुआ है। यह जड़ और चेतन, उसी का रूप है, ज्ञान और क्रिया, दोनों का वही एक मात्र आधार है, वही नियन्त्रक, शासक, पोषक एवं संहारक है किन्तु वह व्यक्ति रूप नही है न वह स्वयं कर्ता है बल्कि उसकी विभिन्न शक्तियां ही यह सब कार्य कर रही है। वह दृष्टा मात्र है जो सबको शक्ति प्रदान करने वाला है। इसलिए यह सृष्टि उससे भिन्न नही बल्कि उसी की महिमा है तथा उसी के द्वारा यह सम्पूर्ण जगत् संचालित

है। वह स्वयं नहीं, उसके कठोर नियमों से ही इसका सुसंचालन हो रहा है। वस्तुओं का स्वभाव तथा काल की भी स्वतन्त्र सत्ता नहीं है। ये भी उसी से उत्पन्न हुए हैं।

> २. जिस परमेश्वर से यह सम्पूर्ण जगत् सदा व्याप्त है, जो ज्ञान स्वरूप परमेश्वर निश्चय ही काल का भी महाकाल है, सर्व गुण सम्पन्न है और सब को जानने वाला है, उससे ही शासित हुआ यह जगत् रूप कर्म विभिन्न प्रकार से यथा-योग्य चल रहा है, और ये पृथ्वी, जल, तेज, वायु, आकाश भी उसी के द्वारा शासित होते हैं। इस प्रकार चिन्तन करना चाहिए।"

व्याख्या—परमात्मा की प्राप्ति का एक ही उपाय है, उसका निरंतर चिन्तन करना। किन्तु वह निराकार है, आँखों एवं अन्य इन्द्रियों का विषय ही नहीं है फिर उसका चिन्तन किस प्रकार किया जाय, उसकी विधि इस मंत्र में बताई गई है कि उसे इस समस्त सृष्टि में व्याप्त, काल का भी जन्मदाता, महाकाल सभी महाभूतों पर शासन करने वाला, ज्ञान का भी आदि स्रोत, सबको जानने वाला, सभी गुणों से युक्त है। सृष्टि में जो कुछ भी है वह उसी की शक्तियों का प्रदर्शन है तथा वह सर्व शक्तिमान है। ऐसा समझकर ध्यान में उसका चिन्तन करते रहने से वह उपलब्ध होता है। स्वयं के अभिमान का त्याग कर उसी को सब कुछ समझने से अहं भाव नष्ट होकर वही मात्र शेष रह जाता है।

> ३. "उसी परमात्मा ने उस जड़ तत्त्व की रचना का कर्म करके उसका निरीक्षण कर फिर चेतन तत्त्व का जड़ तत्त्व से संयोग कराके अथवा यों समझिये कि एक से दो और तीन और आठ के साथ, काल के साथ तथा आत्मा सम्बन्धी सूक्ष्म गुणों के साथ भी इस जीव का सम्बन्ध कराके इस जगत् की रचना की।"

व्याख्या – उस परमात्मा ने सर्व प्रथम जड़ तत्त्व (प्रकृति) की रचना का कर्म किया। फिर उसका निरीक्षण करके उसे ठीक प्रकार का जानकर उसके बाद उसमें चेतन तत्त्व का संयोग करा कर इस समस्त जड़-चेतन मय सृष्टि की रचना की। इस जगत् की रचना का क्रम इस प्रकार बताया गया है कि सर्व प्रथम एक ब्रह्म विद्यमान था। इससे दो तत्त्व उत्पन्न हुए

जिन्हें 'प्रकृति' और- 'पुरुष' कहा जाता है। प्रकृति जड़ तत्त्व है तथा पुरुष चेतन है। यह प्रकृति सत्व, रज और तम तीन गुणो से युक्त है। इन तीन गुणों से आठ प्रकार के तत्त्वों का विकास हुआ जिनमे पाँच महाभूत (पृथ्वी, जल, तेज, वायु और आकाश) तथा मन, बुद्धि और अहंकार हैं। ये सभी जड़ तत्त्व (प्रकृति) का रूप हैं। साथ ही काल तथा जीवात्मा के सूक्ष्म गुण अहंता, ममता आदि के साथ इस चेतन का संयोग करके इस जड़-चेतन मय सृष्टि की रचना की। भाव यह है कि सर्व प्रथम प्रकृति से जड़ पदार्थों की उत्पत्ति हुई। इन जड पदार्थों से ही वनस्पति, जीव-जन्तु, पशु-पक्षी उत्पन्न हुए। मनुष्य इन सबके बाद में पृथ्वी पर उत्पन्न हुआ। वह यकायक प्रकट नहीं हुआ। ईश्वर ने सर्वप्रथम उसके खाने योग्य सामग्री तैयार की फिर उसे उत्पन्न किया। यह इस सृष्टि की प्रथम नहीं अन्तिम रचना है। वाइबिल तथा कुरान में भी ऐसी ही कथाएँ है। थियॉसॉफी भी यही कहती है कि खनिज, वनस्पति, पशु-पक्षी उत्पन्न होने के बाद मनुष्य का विकास हुआ। यह सृष्टि का सर्वोत्कृष्ट विकसित प्राणी है किन्तु अभी यह अन्तिम नहीं है। अभी यह अपनी यात्रा में है। ईश्वर तक पहुँच कर इसकी यात्रा पूर्ण होगी। वही उसका निवास स्थान है। जहाँ से चला था वहीं पुनः पहुँचने पर यात्रा समाप्त हो जाती है। इस मंत्र का भी यही भाव है।

४. "जो साधक सत्त्वादि गुणों से व्याप्त कर्मों को आरम्भ करके उनको तथा समस्त भावों को परमात्मा में लगा देता है (उसी के समर्पण कर देता है), जिससे उन कर्मों का अभाव हो जाने पर उस साधक के पूर्व संचित कर्म समुदाय का भी सर्वथा नाश हो जाता है। इस प्रकार कर्मो का नाश हो जाने पर वह साधक परमात्मा को प्राप्त हो जाता है क्योंकि वह जीवात्मा वास्तव में समस्त जड़ समुदाय से (भिन्न) चेतन है।"

व्याख्या—यह जीवात्मा यद्यपि चेतन है जो इस जड़ प्रकृति से सर्वथा भिन्न है किन्तु यह अपने चेतन स्वरूप के भूल जाने से ही वह अहंकार वश वासना से आसक्त होकर प्रकृति का ही सेवन करता है जिससे इसके सभी कर्म बन्धन का कारण बन जाते हैं। इस प्रकार प्रत्येक जन्म में किये गये कर्मों के बन्धन का एक संचित कोश तैयार हो जाता है जिसके क्षय हुए बिना मुक्ति नहीं होती। किन्तु कर्म करते हुए उनसे मुक्त होने का एक मात्र उपाय यही है कि साधक सत्त्वादि कर्म करे, रजोगुण एवं तमोगुण युक्त कर्मों का त्याग कर दे तथा उनको भी निष्काम भाव से

करके उन्हें परमात्मा को समर्पित कर दे अर्थात् उसी की इच्छा एवं आज्ञा समझ कर करे। इस प्रकार किये गये कर्म बन्धन का कारण नहीं बनते तथा सभी कुछ ईश्वर का मान कर कर्म करने से संचित कर्म भी नष्ट हो जाते हैं जिससे वह परमात्मा को प्राप्त हो जाता है। कर्म करते हुए परमात्मा को प्राप्त होने की यही विधि है। गीता में यही उपदेश भगवान कृष्ण ने अर्जुन को दिया था कि इसे मेरा काम समझकर कर। जिससे तू कर्मों में लिप्त नहीं होगा।

५. "वह आदि कारण (परमात्मा) तीनों कालों से सर्वथा अतीत एवं कला रहित होने पर भी प्रकृति के साथ जीव का संयोग कराने में कारणों का भी कारण देखा गया है। अपने अन्तःकरण में स्थित उस सर्वरूप एवं जगत् में प्रकट, स्तुति करने योग्य, पुराण पुरुष, परमदेव की उपासना करके उसे प्राप्त करना चाहिए।"

व्याख्या—वह परब्रह्म ही अन्तःकरण तथा बाह्य जगत् में प्रकट है। वही सबका कारण है। प्रकृति के साथ जीव का संयोग कराने वाला वही है। उसी की स्तुति करके उसे प्राप्त करना चाहिए।

६. "जिससे यह प्रपंच(संसार) निरंतर चलता रहता है, वह इस संसार-वृक्ष, काल और आकृति आदि से सर्वथा अतीत एवं भिन्न है। उस धर्म की वृद्धि करने वाले, पाप का नाश करने वाले, सम्पूर्ण ऐश्वर्य के अधिपति तथा समस्त जगत् के आधार भूत परमात्मा को अपने हृदय में स्थित जानकर साधक अमृत स्वरूप हो जाता है।"

व्याख्या—वह परब्रह्म इस संसार, काल और आकृति से सर्वथा भिन्न है किन्तु वही संसार का आधार भूत है। उसे अपने हृदय में स्थित जब जान लिया जाता है तो साधक स्वयं अमृत रूप (जन्म मरण से मुक्त) हो जाता है। उसे मात्र प्रत्यक्ष कर लेना ही मुक्ति का एक मात्र उपाय है।

७. "उस ईश्वरों के भी परम महेश्वर, सम्पूर्ण देवताओं के भी परम देवता, पतियों के भी परम पति, तथा समस्त ब्रह्माण्ड के स्वामी, स्तुति करने योग्य उस परमात्मा को हम लोग सबसे परे जानते हैं।"

व्याख्या—वह परब्रह्म परमेश्वर सभी ईश्वरों (लोकपालों) के भी

महेश्वर है, सम्पूर्ण देवताओ, यतियों (रक्षकों) के परम रक्षक, तथा समस्त ब्रह्माण्ड के स्वामी है। वही एक मात्र स्तुति करने योग्य हैं। हम ऋषि लोग जानते है कि वही सबसे श्रेष्ठ है। उससे कोई भी श्रेष्ठ नही है। वे सर्वरूप होकर भी सबसे भिन्न है।

८. "उसके कार्य और अन्त.करण तथा इन्द्रिय रूप करण नहीं है। उससे बड़ा और उसके समान भी दूसरा नहीं दीखता तथा इस परमेश्वर की ज्ञान, बल और क्रिया रूप स्वाभाविक दिव्य शक्ति नाना प्रकार की ही सुनी जाती है।"

व्याख्या—वह परमात्मा कर्म, अन्त करण तथा इन्द्रियों से रहित है। वह एक ही अद्वितीय है। उससे बड़ा अथवा समान भी कोई नही है। उसकी ज्ञान, बल एवं क्रिया रूप दिव्य शक्ति विविध प्रकार की हैं। उसका ज्ञान बल एवं क्रिया जीवों की भांति न होकर दिव्य प्रकार की है जिसे समझना कठिन है।

९. "जगत् में कोई भी उस परमात्मा का स्वामी नहीं है, उसका शासक भी नहीं है और उसका कोई लिंग (चिह्न विशेष) भी नहीं है। वह सबका कारण है, समस्त कारणों के अधिष्ठाताओं का भी अधिपति है। कोई भी न तो इसका जनक है और न स्वामी ही है।"

व्याख्या—वह परब्रह्म ही सबका स्वामी एवं शासक है। उसका कोई स्वामी नही है जिसके अधीन वह कार्य करे। वह सभी कारणों के परम कारण हैं। निराकार होने से उसका कोई स्वरूप अथवा चिह्न नही है, वही सबका अधिपति है। उसका कोई पिता नहीं है वही सबका पिता है। ऐसा वह परमेश्वर सर्व शक्तिमान् एवं सम्पूर्ण सृष्टि का आदि कारण है।

१०. "तन्तुओं द्वारा मकड़ी की भाँति जिस एक देव ने अपनी स्वरूप भूत मुख्य शक्ति से उत्पन्न अनन्त कार्यों द्वारा स्वभाव से ही अपने को आच्छादित कर रखा है, वह परमेश्वर हम लोगों को अपने परब्रह्म रूप में आश्रय दे।"

व्याख्या—उस परब्रह्म ने किसी विशेष प्रयोजन से सृष्टि का निर्माण नही किया न उसने अपने मे भिन्न किसी तत्त्व से सृष्टि रचना की, बल्कि

जिस प्रकार मकड़ी अपने स्वयं के भीतर से ही तन्तु उत्पन्न कर जाले का निर्माण करती है, उसी प्रकार उस परमात्मा के भीतर से ही अपनी स्वाभाविक शक्तियों को जाग्रत कर उनसे अपने स्वभाव के अनुसार ही सृष्टि का निर्माण किया। विभिन्न शक्तियों के स्वभाव के कारण ही विभिन्न आकारों का निर्माण हुआ किसी विशेष उद्देश्य से नहीं। जो विद्वान सृष्टि की उत्पत्ति स्वभाव से मानते हैं वह यही शक्तियों का स्वभाव है किन्तु इन सभी शक्तियों का स्वामी वह परब्रह्म है। शक्तियाँ उसी के अधीन रह कर कार्य करती हैं। ये सभी प्रकार की शक्तियाँ उसका प्रकट रूप है जिनके भीतर वह अप्रकट छिपा है। वही परब्रह्म रूप परमेश्वर हमको आश्रय दे जिससे हम इन शक्तियों के प्रभाव से मुक्त होकर उसे प्राप्त कर सकें।

११. "वह एक देव ही सब प्राणियों में छिपा हुआ है, सर्वव्यापी और समस्त प्राणियों का अन्तर्यामी परमात्मा है, वही सबके कर्मों का अधिष्ठाता, सम्पूर्ण भूतों का निवास स्थान, सबका साक्षी, चेतन स्वरूप और सबको चेतना प्रदान करने वाला है सर्वथा विशुद्ध और निर्गुण (गुणातीत) भी है।"

व्याख्या—वह परब्रह्म सूक्ष्म से भी सूक्ष्म सभी प्राणियों के हृदय में स्थित है तथा सर्वव्यापी है। वही समस्त कर्मों का अधिष्ठाता है तथा सभी भूत उसी में स्थित हैं। वही सबका साथी, चेतन स्वरूप है। सभी चेतना उसी के कारण है। वह सर्वथा विशुद्ध एवं गुणातीत है।

१२. "जो अकेला ही बहुत से अक्रिय जीवों का शासक है। वही एक ही प्रकृति रूप बीज को अनेक रूपों में परिणत कर देता है, उस हृदय स्थित परमेश्वर को जो धीर पुरुष निरन्तर देखते रहते हैं उन्हीं को सदा रहने वाला परमानन्द प्राप्त होता है, दूसरों को नहीं।"

व्याख्या—यह प्रकृति जड़ है जिससे इससे निर्मित प्रत्येक जीव अक्रिय ही है, जड़वत् है। उनमें किसी प्रकार की क्रिया, हलचल एवं ज्ञान का अभाव है किन्तु वही अकेला परब्रह्म तत्त्व सर्वव्यापी होकर सब में ज्ञान एवं क्रिया का संचार करता है। उसी के संयोग से यह प्रकृति चैतन्य सी प्रतीत होती है तथा नाना रूपों को धारण करती है। वही एक जड़ बीज उस चेतन शक्ति के संयोग से ही फूटकर वृक्ष बनता है तथा पुनः अनेक बीजों का निर्माण करता हुआ निरन्तर विस्तार को प्राप्त होता है। एक

से अनेक होने की प्रक्रिया में वही चेतन तत्त्व प्रमुख है। वह चेतन तत्त्व प्रत्येक प्राणी के हृदय मे स्थित है जिसे ज्ञानी जन निरन्तर देखते रहते हैं जिससे उन्हे परमानन्द की प्राप्ति होती हे। दूसरे अज्ञानी उसे नही देख सकते। वे प्रकृति को ही देखते है जिससे सुख-दुःख का अनुभव करते हैं।

१३. "जो एक, नित्य, चेतन (परमात्मा) बहुत से नित्य, चेतन आत्माओं के कर्म फल भोगो का विधान करता है, उस सांख्य (ज्ञान योग) और योग (कर्म योग), से प्राप्त करने योग्य सबके कारण रूप परम देव को जानकर मनुष्य समस्त बन्धनो से मुक्त हो जाता है।"

व्याख्या—वह एक ही परब्रह्म नित्य तथा चेतन स्वरूप है जो सबके भीतर अन्तर्यामी रूप से स्थित है किन्तु अहंता, ममता आदि के कारण सभी प्राणियो मे वह जीवात्माएँ भिन्न-भिन्न प्रतीत होती है। वह परब्रह्म ही इन समस्त जीवात्माओं पर शासन करने वाला है। ये जीवात्माएँ अपनी वासना, कामना, अहता, संस्कार आदि के वशीभूत होकर कर्म करती है इसलिए वे इन कर्मों के फलो को भी भोगती है। इन कर्म फलो का विधान करने वाला भी यही एक चेतन तत्त्व है जो जीवात्मा के समस्त कर्मो का साक्षी है। किस प्रकार के कर्म का क्या फल होता है इसका विधान वही एक चेतन परब्रह्म ही करता है। क्योकि जो शासन करता है वही उसके नियम भी बनाता है। किसी देश पर राजा शासन नही करता, उसके बनाये नियम ही शासन करते हैं। उस परमात्मा ने जीवात्मा को कर्म करने की स्वतन्त्रता देकर उनका फल अपने हाथ मे रखा है जिससे जीवात्मा कुमार्गगामी न हो सके। वह फल भी अपनी मर्जी से नही देता बल्कि उसके बनाये हुए नियमों के अनुसार देता है जिसका सृष्टि के आरम्भ मे ही उसका विधान किया था। यही उसकी न्यायकारी परंपरा है। ऐसे परमात्मा को ज्ञान योग तथा कर्म योग अर्थात् सांख्य और योग से जाना जा सकता है। उसको जान लेने पर ही वह जीवात्मा समस्त कर्म फलो के बन्धनो से मुक्त हो जाता है। उसको प्राप्त किये बिना कर्म फलो से मुक्ति नही होती। सांख्य बोध की बात कहता है तथा योग क्रिया की। उसे दोनो ही विधियो से जाना जा सकता है।

१४. "वहाँ न तो सूर्य प्रकाश फैला सकता है, न चन्द्रमा और तारागण ही और न वे बिजलियाँ ही वहाँ प्रकाशित हो सकती हैं फिर यह लौकिक अग्नि कैसे प्रकाशित हो सकती

है क्योंकि उसी के प्रकाश से ये सब प्रकाशित हो रहे हैं, उसी के प्रकाश से यह सम्पूर्ण जगत् प्रकाशित होता है।"

व्याख्या—[यही मंत्र मुण्डक उपनिषद् २/२/१० में तथा कठोपनिषद् २/२/१५ में भी है।]

वह ब्रह्म ही समस्त ज्योतियों की ज्योति है। वही प्रकाश और अग्नि का स्रोत है किंतु शान्तावस्था में स्थित रहने पर इस प्रकाश एवं अग्नि की अभिव्यक्ति नहीं होती। उसकी शक्तियाँ जब प्रकट होती हैं तो उनके पारस्परिक यजन से ही विद्युत, प्रकाश, अग्नि, वायु, जल, पृथ्वी आदि अनेक तत्त्व उत्पन्न होते हैं। इसलिए उस परम तत्त्व में सब कुछ विद्यमान रहते हुए भी अभिव्यक्ति के अभाव में उनका यह प्रकट रूप दिखाई नहीं देता। ये सूर्य, चन्द्रमा, तारागण, अग्नि आदि उसकी अभिव्यक्ति से ही ज्ञात होते हैं। बीज में वृक्ष होते हुए भी उसकी अभिव्यक्ति न होने से उसमें तना, शाखाएँ, फूल, फल आदि कहीं दिखाई नहीं देते। ऐसा ही वह परब्रह्म है।

१५. "इस ब्रह्माण्ड के बीच में एक ही प्रकाश स्वरूप परमात्मा है। वही अग्नि है और वही जल में स्थित है। उसे जानकर ही मनुष्य मृत्यु रूप संसार सागर से सर्वथा पार हो जाता है। उस परमधाम की प्राप्ति के लिए दूसरा मार्ग नहीं है।"

व्याख्या—इस समस्त ब्रह्माण्ड को प्रकाशित करने वाला वही एक ब्रह्म है जो अग्नि, जल आदि समस्त पदार्थों का आधार है। यह समस्त सृष्टि दो ही तत्त्वों के पारस्परिक यजन से बनी है जिन्हें वेदों में अग्नि और सोम तत्त्व कहा गया है। वह अग्नि तत्त्व ही विद्युत, सूर्य, तारागण तथा भौतिक अग्नि के रूप में व्यक्त होता है तथा इसी की उष्णता की कमी से वही सोम तत्त्व में परिणत होता है जिसकी अभिव्यक्ति जल रूप में होती है। इस प्रकार अग्नि एक ही मूल तत्त्व है जो सोम में परिवर्तित हो जाता है तथा यही सोम पुनः अग्नि में परिवर्तित हो जाता है। यह रूपान्तरण मात्र है। अतः इस भौतिक अग्नि एवं जल का आधार वही अग्नि तत्त्व है तथा उसका भी आधार वह परब्रह्म है। इस प्रकार जो उस मूल, अनादि तत्त्व को तथा उसकी विस्तार प्रक्रिया को जान लेता है वही सभी प्रकार के संशयों, भ्रांतियों, अहंता, ममता आदि से मुक्त होकर उस परमकल्याण-कारी शिव (परमात्मा) को उपलब्ध होकर संसार के समस्त कर्म बंधनों

एवं दु खों से मुक्त हो जाता है। जीवात्मा का एकमात्र बंधन उस परब्रह्म का ज्ञान नही होना ही है। इसी कारण वह प्रकृति द्वारा प्राप्त भोगो की ओर ही आकृष्ट होता है। इस प्रकार इस संसार सागर से पार होने का अर्थात् समस्त कर्म बंधनो से मुक्त होने का एकमात्र उपाय उस परमात्मा की प्राप्ति अथवा उसका ज्ञान ही है। अन्य कोई मार्ग नहीं है। दुनिया के सभी धर्मों में जो विधियाँ हैं जैसे पूजा, प्रार्थना, योग, ज्ञान, तन्त्र, भक्ति आदि सभी उस एक को प्राप्त करने की विधियाँ ही है। साधन कोई भी हो लक्ष्य एक ही है जिसका परिणाम है समस्त दु खो का अन्त एवं परमानन्द की प्राप्ति। यही इस जीवात्मा की अन्तिम स्थिति है।

१६. "वह ज्ञान स्वरूप परमात्मा सर्व सृष्टा, सर्वज्ञ, स्वयं ही अपने प्राकट्य का हेतु, काल का भी महाकाल, सम्पूर्ण दिव्य-गुणों से सम्पन्न और सबको जानने वाला है, जो प्रकृति और जीवात्मा का स्वामी, समस्त गुणो का शासक तथा जन्म-मृत्यु रूप संसार में बाँधने, स्थित रखने और मुक्त करने वाला है।"

व्याख्या—वह परब्रह्म ज्ञान स्वरूप है तथा क्रिया उसका स्वभाव है। ज्ञान स्वरूप होने से ही वह सर्वदृष्टा एवं सर्वज्ञ है। वह स्वयं ही अपने संकल्प से जगत् रूप में प्रकट हुआ है। उसका कोई अन्य हेतु नही है। वह दिव्य गुणों, दिव्य शक्तियों से सम्पन्न है, काल की उत्पत्ति भी उसी से होती है इसलिए वह महाकाल है। वह प्रकृति और जीवात्मा अर्थात् जड़ और चेतन दोनो का स्वामी है। दोनो ही उसी की शक्ति से सचालित एवं क्रियाशील होते हैं। इसलिए वह दोनो को जानता है। सत्त्व, रज, तम प्रकृति के गुण है किंतु वह प्रकृति का भी स्वामी होने से इन गुणों का भी स्वामी एवं शासक है। वही जीवो को ससार में कर्म बंधनों से बाँधने वाला, संसार मे स्थित रखने वाला है (जब तक कि जीवात्मा का अज्ञान शेष है) तथा ज्ञान प्राप्ति पर वही मुक्त करने वाला है। ऐसी उसकी दिव्य महिमा है जिसे जानने से ही जीवात्मा उस परमानन्द मे स्थित हो सकता है।

१७. "वही तन्मय अमृत रूप ईश्वरों (लोकपालों) मे भी आत्मरूप से स्थित, सर्वज्ञ, सर्वत्र परिपूर्ण और इस ब्रह्माण्ड का रक्षक है जो इस सम्पूर्ण जगत् का सदा ही शासन करता है

क्योंकि इस जगत् पर शासन करने के लिए दूसरा कोई भी हेतु नहीं है।"

व्याख्या—वह परमात्मा समस्त लोकों की रक्षा करने वाले लोक-पालों में भी अमृत एक रस है, सबमें वही व्याप्त है तथा वह सर्वज्ञ तथा सबसे परिपूर्ण होने से वही समस्त ब्रह्माण्ड का रक्षक तथा शासक है क्योंकि कोई भी ऐसा दूसरा तत्त्व नहीं है जो इस पर शासन कर सके तथा इसकी सुव्यवस्था एवं सुसंचालन कर सके।

१८. "जो परमेश्वर निश्चय ही सबसे पहले ब्रह्मा को उत्पन्न करता है और जो निश्चय ही उस ब्रह्मा को समस्त वेदों का ज्ञान प्रदान करता है, उस परमात्म ज्ञान विषयक बुद्धि को प्रकट करने वाले प्रसिद्ध देव परमेश्वर को मैं मोक्ष की इच्छा वाला साधक आश्रय रूप में ग्रहण करता हूँ।"

व्याख्या—मोक्ष किसी कर्म से प्राप्त नहीं होता। कर्म से संसार की ही प्राप्ति होती है, भोगों की ही प्राप्ति होती है इसलिए भोग की इच्छा रखने वालों के लिए कर्म ही एकमात्र मार्ग है। आलसी, अकर्मण्य, पुरुषार्थ हीन को कुछ भी प्राप्त नहीं होता किन्तु परमात्मा को पुरुषार्थ से प्राप्त नहीं किया जा सकता। जब पुरुषार्थ की समस्त दौड़ शान्त हो जाती है, जब चित्त स्थिर हो जाता है, जब मन की वासनाएँ, कामनाएँ, चंचलता शान्त हो जाती है ऐसे निस्तब्ध चित्त में ही उसकी झलक मिलती है। शंकराचार्य ने भी कहा है "मुक्ति का हेतु कर्म नहीं है। कर्म चित्त शुद्धि के लिए ही है, तत्त्व दृष्टि के लिए नहीं है।" इसलिए कोई भी कर्म मोक्ष का हेतु नहीं होता। मोक्ष में बाधक केवल अहंकार है। अहंकार के रहते मोक्ष सौ जन्मों में भी नहीं हो सकता। इसलिए अहंकार त्याग ही मोक्ष प्राप्ति का एकमात्र उपाय है। अहंकार त्याग का एक ही तरीका है—अपने अस्तित्व को ही ईश्वर के समर्पित कर देना, ऐसा ज्ञान हो जाना कि सब कुछ वही कर रहा है। स्वयं को निमित्त भी नहीं मानना क्योंकि निमित्त में भी अहंकार रहता ही है, 'मैं' पन रहता है मैं निमित्त हूँ। इस 'मैं' पन का ही अभाव कर देना, यही अहंकार त्याग है। इसी अहंकार त्याग के लिए भगवान कृष्ण गीता में कहते हैं 'सर्व धर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज" (सर्व धर्मों को अर्थात् कर्मों के आश्रय को त्याग कर एक मेरी ही शरण को प्राप्त हो)। यह अहंकार त्याग का ही मंत्र है। अहंकार त्याग से ही उस परब्रह्म का आश्रय प्राप्त होता है। अहंकारी इससे वंचित रहते हैं।

इस मंत्र में ऋषि पूर्ण शरणागति की बात कहते है कि मैं मोक्ष की इच्छा वाला साधक अपने आश्रय रूप से उस परमात्मा को ही ग्रहण करता हूँ तेरे सिवा अन्य किसी का भी आश्रय मोक्ष प्रदान नहीं कर सकता। यह पूर्ण समर्पण का मंत्र है। पूर्व मे उस परमेश्वर की विशेषताएँ बतलाई गई हैं कि वही सृष्टि की रचना हेतु सर्व प्रथम ब्रह्मा को उत्पन्न करता है तथा वही परमेश्वर सर्वप्रथम वेदो का ज्ञान उस ब्रह्मा. को प्रदान करता है। वही ब्रह्मा जगत् का रचयिता एव ज्ञान का आदि गुरु बन जाता है तथा जीवात्मा को जो परमात्म-ज्ञान विषयक बुद्धि भी उसी के द्वारा प्रदान की हुई है। उसकी कृपा के बिना मनुष्य की परमात्म-ज्ञान विषयक बुद्धि जाग्रत ही नही होती। इस प्रकार समस्त ज्ञान एवं क्रिया के स्वामी उस परब्रह्म परमेश्वर को अहंकार त्याग कर शरण मे जाने से ही मुक्ति प्राप्त होती है। यही इस मन्त्र का भाव है।

१९. "वह कलाओं से रहित, क्रिया रहित, सर्वत्र शान्त, निर्दोष, निर्मल, अमृत के परम सेतु रूप तथा जले हुए ईंधन से युक्त अग्नि की भाँति है।"

व्याख्या—इस मंत्र में परमात्मा का स्वरूप बताया गया है जो मोक्ष के सेतु हैं तथा जिसका इस प्रकार चिन्तन करने से मनुष्य संसार सागर को पार कर जाता है। उसका स्वरूप है—वह संसार की सम्बन्ध कलाओ से रहित है, क्रिया रहित तथा सर्वथा शान्त है, जो जले हुए ईंधन के समान शुद्ध अग्नि स्वरूप निर्दोष है जो समस्त दोषों को भस्म करने वाला है, निर्मल है, विकार रहित है। उस परमेश्वर का ध्यान करने से चित्त ससार के भोगो की आसक्ति से शुद्ध होकर अत्यन्त निर्मल हो जाता है तथा उसी निर्मल चित्त में आत्मा का प्रकाश होता है। यही ज्ञान का उदय है जिसके होने पर सभी संस्कार नष्ट होकर मोक्ष प्राप्त होता है।

२०. "जब मनुष्यगण आकाश को चमड़े की भाँति लपेट सकेंगे, तब उन परमदेव परमात्मा को बिना जाने भी दु.ख समुदाय का अन्त हो सकेगा।"

व्याख्या—यदि मनुष्य आकाश को चमड़े की भाँति लपेट सके तो बिना परमात्म ज्ञान के ही मुक्ति हो सकती है अन्यथा नही। भाव यह है कि मनुष्य ऐसा कर नही सकता इसलिए दूसरा एक ही उपाय है उस परब्रह्म का प्रत्यक्ष अनुभव करना। इसे परमात्मज्ञान, ज्ञान, आत्मज्ञान,

मुक्ति, कैवल्य प्राप्ति आदि नाम दिये जा सकते हैं। यही वह स्थान है जहाँ पहुँच कर पुनः जन्म-मृत्यु के चक्र में नहीं पड़ना पड़ता। इसी को 'परमगति' कहते हैं।

२१. "यह प्रसिद्ध है कि श्वेताश्वतर नामक ऋषि तप के प्रभाव से और परमदेव परमात्मा की कृपा से ब्रह्म को जान सके तथा उन्होंने ऋषि समुदाय से सेवित परम पवित्र इस ब्रह्म तत्त्व का आश्रम के अभिमान से अतीत अधिकारियों को पूर्ण रूप से उपदेश किया था।"

व्याख्या—यह प्रसिद्ध है कि श्वेताश्वतर नामक ऋषि ने इंद्रिय संयम, वासना एवं तृष्णा त्याग, विषय सुखों का त्याग, देहाभिमान का त्याग करके जो कठिन तप किया था तथा उस परमात्मा की कृपा से उस परब्रह्म को प्रत्यक्ष करके जो ज्ञान प्राप्त किया था तथा वह तत्त्व ज्ञान जो ऋषि समुदाय द्वारा ही सदा से सेवित रहा है, वे ही ऋषिगण इस परम पवित्र ब्रह्म ज्ञान के अधिकारी रहे हैं, ऐसे गूढ़ एवं रहस्यमय ज्ञान को उन्होंने उन शिष्यों को दिया जो किसी आश्रम अथवा देह के अभिमान से शून्य हैं।

इस मन्त्र का भाव यही है कि जो भोगों में रस लेते हैं, जिन्हें देहाभिमान है, जो इन्द्रिय लोलुप हैं उन्हें कभी भी इस तत्त्व ज्ञान का उपदेश नहीं करना चाहिए। यदि ऐसा व्यक्ति मुमुक्षु है तो सर्व प्रथम उसकी तप, इन्द्रिय संयम आदि द्वारा चित्त शुद्धि करानी चाहिए। जब वह देहाभिमान से शून्य हो जाय तभी उसे इस परमज्ञान का उपदेश करना चाहिए अन्यथा वह इसका दुरुपयोग कर नरकगामी भी हो सकता है, बुरा करने में जितनी हानि नहीं होती उतनी अच्छे कार्य के दुरुपयोग से होती है। बुरे का सुधार हो सकता है किंतु अच्छे के साथ बुरा मिलने से वह अच्छा इतना विकृत हो जाता है कि उसके सुधार की संभावना ही समाप्त हो जाती है। अच्छाई को शुद्धतम रूप में बनाये रखना भी एक कठिन साधना है। इसलिए अधिकारी को ही उपदेश देने का विधान है।

२२. "यह परम रहस्यमय ज्ञान पूर्व कल्प में वेद के अन्तिम भाग-उपनिषद् में भली-भाँति वर्णित हुआ था। जिसका अन्तःकरण सर्वथा शान्त न हो गया हो, ऐसे मनुष्य को इसका उपदेश नहीं देना चाहिए तथा जो अपना पुत्र न हो अथवा जो शिष्य न हो उसे भी नहीं देना चाहिए।"

व्याख्या—यह ब्रह्मज्ञान अति रहस्यमय है जिसे सामान्य जन समझ ही नहीं सकता। इसको समझने के लिए तीव्र प्रतिभा चाहिए। इसलिए इसका उपदेश योग्य पात्र को ही देना चाहिए। पात्रता की शर्त यही है कि वह जिज्ञासु हो, जिसकी मोक्ष प्राप्ति की इच्छा हो, जो संयम, नियम, सदाचरण वाला हो, जिसमें विनम्र भावना हो, जिसमे इस रहस्यपूर्ण ज्ञान को समझ सकने एवं ग्रहण करने की शक्ति हो, जो गुरु के सामने समर्पण को तैयार हो, जिसे अपनी बुद्धि का एवं ज्ञान का अहंकार न हो ऐसा व्यक्ति यदि शिष्य भाव से गुरु के समक्ष ज्ञान की जिज्ञासा लेकर उपस्थित हो तो ऐसे शिष्य की गुरु पूर्ण परीक्षा करके उसे शिष्य बनाता है तथा उसे सर्वप्रथम शास्त्रीय ज्ञान कराकर अन्त में जब वह उसकी कठोर परीक्षा लेता है तथा उसमें सफल होने पर ही उसे इस ब्रह्मज्ञान का उपदेश करता है। जैसे वशिष्ठ ने राम को दिया, अष्टावक्र ने जनक को दिया तथा जनक ने शुकदेव को दिया। ऐसी स्थिति में ही उनकी तत्काल अज्ञान ग्रन्थि खुल कर ज्ञान का प्रकाश होता है अन्यथा यह ज्ञान निरर्थक ही नहीं हानिकारक भी सिद्ध हो सकता है। इसलिए ऐसे ज्ञान के लिए पुत्र अथवा शिष्य के अलावा अन्य किसी को देने का सर्वथा निषेध किया गया है।

यह ज्ञान पूर्व कल्प मे भी वेद के अन्तिम भाग उपनिषदों में था। इसका अर्थ है—यह ज्ञान अनादि है तथा कल्प कल्पान्तर से चला आ रहा है। यह न तो नया है न किसी एक व्यक्ति, ऋषि, अवतार, तीर्थंकर, पैगम्बर द्वारा दिया हुआ है बल्कि परंपरागत है तथा गुरु-शिष्य परंपरा से ही यह आगे-आगे दिया जाता रहा है। यह सर्वप्रथम ब्रह्म की ज्ञान शक्ति से ब्रह्मा द्वारा प्रकट हुआ था। इससे इसे ईश्वरीय ही कहा जाता है।

२३. "जिसकी इस परमदेव मे परम भक्ति है तथा जिस प्रकार परमेश्वर में है उसी प्रकार गुरु में भी है, उस महात्मा पुरुष के हृदय में ही ये बताये हुए रहस्यमय अर्थ प्रकाशित होते हैं। उसी महात्मा के हृदय में प्रकाशित होते हैं।"

व्याख्या—इस प्रकार का रहस्यपूर्ण ज्ञान गुरु-भक्ति के बिना ग्राह्य नही होता। विज्ञान का ज्ञान प्रयोगशाला मे प्रयोगों द्वारा सिद्ध किया जा सकता है किन्तु इस ज्ञान की प्रयोगशाला व्यक्ति का स्वयं का मस्तिष्क ही है। गुरु कथा, कहानी, तर्क आदि विभिन्न युक्तियों से ही इसे शिष्य के लिए ग्राह्य बनाता है किन्तु श्रद्धा के अभाव में शिष्य इन पर विश्वास नहीं

करता । अतः ऐसे शिष्य को यह ज्ञान देना व्यर्थ ही है । गुरु ईश्वर का ही प्रतिनिधि होता है । जिस गुरु ने स्वयं आत्मज्ञान प्राप्त कर लिया है । जिसे आत्मा एवं परब्रह्म का प्रत्यक्ष अनुभव हो गया है उसमें पूर्ण श्रद्धा रखकर उसके वाक्यों को ईश्वरीय वाक्य समझ कर ग्रहण करने वाला शिष्य ही इस ज्ञान से लाभान्वित हो सकता है। एक ज्योति से ही दूसरी ज्योति जलती है । विना गुरु के किसी को आत्मज्ञान हो गया हो, ईश्वर प्राप्ति हो गई हो ऐसा कहीं सुना नहीं गया । ईश्वर स्वयं किसी को ज्ञान देने नहीं आता । वह सारा ज्ञान गुरु के माध्यम से ही आता है । इसलिए गुरु ईश्वर का ही प्रतिनिधि है । जितने भी तीर्थंकर, पैगम्बर, ईश्वर पुत्र आदि हुए हैं वे गुरु होने से ईश्वर के ही प्रतिनिधि हैं जिनके माध्यम से यह ईश्वरीय ज्ञान पृथ्वी पर उतरा जिससे मानव समाज लाभान्वित हुआ। थियोसॉफी में इनको 'मास्टर्स' कहा जाता है । इसलिए गुरु को ईश्वर के ही समान मानकर उसी भक्ति-भाव से उसकी शरण में जाना चाहिए तभी उपलब्धि के द्वार खुलते हैं । भारत में तो गुरु को ईश्वर से भी ऊँचा स्थान दिया गया है क्योंकि उसके विना ईश्वर को प्राप्त नहीं किया जा सकता । अंतिम वाक्य की पुनरावृत्ति इस पर विशेष वल देने के लिए है ।

ओ३म शान्ति ! शान्ति !! शान्ति !!!

—:o:—

॥ छठा अध्याय समाप्त ॥ ६ ॥

—:o:—

॥ श्वेताश्वतर उपनिषद् समाप्त ॥

योगवाशिष्ठ (महारामायण)

सम्पादक : श्री नन्दलाल दशोरा

भारतीय अध्यात्म ग्रथो में योगवाशिष्ठ का स्थान सर्वोपरि है। अद्वैत की धारणा को परिपुष्ट करने वाला, आध्यात्म के गूढ सिद्धांतो का विवेचन करने वाला, एवं भारतीय दर्शन की मान्यताओ का समस्त सार इसमे समाहित है। भारतीय चितन का यह प्रतिनिधि ग्रथ है जिसके मनन से समस्त भ्रांतिपूर्ण धारणाएं निर्मूल होकर सत्य-स्वरूप का ज्ञान हो जाता है। महर्षि वशिष्ठ ने जो ज्ञान अपने पिता ब्रह्मा से प्राप्त किया था वह उन्होने भगवान राम को दिया जिससे वह जीवन्मुक्त होकर रहे। इसी वशिष्ठ और राम सवाद के ज्ञान का सग्रह महर्षि वाल्मीकि ने जनकल्याण के लिए किया था।

यह ग्रथ केवल तात्विक विवेचन ही नही है अपितु मोक्ष साधना की विधि को इसमे इस प्रकार स्पष्ट किया गया है कि प्रत्येक पाठक इसका प्रयोग घर बैठे कर सकता है। इसमे न हठयोग जैसी कठिन क्रियाएँ करनी है, न मंत्रजाप, न पूजा और प्रार्थना करनी है। यदि कोई साधक इसमें दी गई विधियों को पूर्णतया प्रयोग करे तो उसे मोक्ष लाभ मिल सकता है।

इस ग्रंथ को पढने के पश्चात् किसी अन्य ग्रंथ को पढने की आवश्यकता नही रहती क्योकि जो बातें इस ग्रथ मे है वे अन्य ग्रथो मे भी मिलेंगी; जो इसमें नहीं हैं वे कही नही मिलेंगी। महर्षि वशिष्ठ ने अनेक उपाख्यानों के माध्यम से जो ज्ञान, भगवान राम को दिया वही योग वाशिष्ठ के नाम से विख्यात यह अमर ग्रंथ वेदांत का सारभूत उपदेश माना गया है जिसे अब नवीनतम शैली मे श्री नन्दलाल दशोरा ने समझाने का अनथक प्रयास किया है।

अष्टावक्र गीता

(राजा जनक और ज्ञानशिरोमणि अष्टावक्र का ज्ञान संवाद)

व्याख्याकार—श्री नन्दलाल दशोरा

अष्टावक्र गीता भारतीय अध्यातम का शिरोमणि ग्रंथ है जिसकी तुलना किसी अन्य से नहीं की जा सकती। आत्मज्ञान प्राप्ति की अनेक

विधियां हैं और विभिन्न धर्मों में विभिन्न विधियाँ अपनाई जाती हैं। किन्तु अष्टावक्र सीधा अज्ञान पर चोट करते हैं वे किसी विधि, क्रिया, पूजा, प्रार्थना, ध्यान, कर्म, भक्ति, भजन कीर्तन, हठयोग आदि कुछ भी आवश्यक नहीं मानते। वे मानते हैं कि ये सभी क्रियायें आडम्बर व दिखावा मात्र हैं जिससे धार्मिक तो दिखाई देता है किन्तु उपलब्धि नहीं हो सकती। उपलब्धि के लिए बोधमात्र पर्याप्त है। जैसे अन्धकार का अस्तित्व नहीं है, वह प्रकाश का अभाव मात्र है। एक दीपक जला दो अन्धकार स्वयं लुप्त हो जाएगा, किन्तु लोग दीपक जलाना छोड़कर अंधकार को सीधा हटाने की प्रक्रिया में सब साधनायें कर रहे हैं जो व्यर्थ ही नहीं मूर्खता पूर्ण भी है। ज्ञान प्राप्ति का मार्ग केवल बोध है। अष्टावक्र में ऐसा केवल उपदेश ही नहीं दिया बल्कि राजा जनक पर प्रयोग करके वैज्ञानिक दृष्टि से सत्य सिद्ध करके दिखा दिया है कि यह कोई सैद्धान्तिक वक्तव्य नहीं अपितु प्रयोग सिद्ध वैज्ञानिक सत्य है। इस दृष्टि से इसे भारत का नहीं विश्व अध्यात्म का शिरोमणि ग्रंथ माना जाता है। यह पुस्तक आत्म ज्ञान के मुमुक्षु व्यक्तियों के लिए निश्चित ही एक ऐसी नौका है जिसमें बैठकर सांसारिक बंधनों से मुक्त होकर मोक्ष का लाभ प्राप्त किया जा सकता है, जो जीवन की उच्चतम स्थिति है।

पातंजलि योगसूत्र (योग दर्शन)

अनुवाद और व्याख्या—श्री नन्दलाल दशोरा

योग का अर्थ है मिलना, जुड़ना संयुक्त होना आदि। जिस विधि से साधक अपने प्रकृतिजन्य विकारों को त्यागकर अपनी आत्मा से जुड़ता है वही योग है। पातंजलि चित्त वृत्तियों के निरोध को ही योग कहते हैं। इस मार्ग पर चलने से किसी प्रकार का भय नहीं है। जहाँ-जहाँ अवरोध आते हैं उनका इस ग्रन्थ में स्थान-स्थान पर वर्णन दिया गया है जिससे साधक इससे बचता हुआ अपने मन्तव्य तक पहुंच सकता है। इस ग्रन्थ की व्याख्या का उद्देश्य सामान्यजनों में योग के प्रति रुचि जाग्रत करना है। पुस्तक में योग सम्बन्धी शब्दार्थों पर अधिक जोर न देकर उसके भावों को प्रधानता दी गई है जिससे यह विषय बोधगम्य हो सके।

॥ ॐ ॥

श्री तुलसी पुस्तकालय

(संरक्षक-श्री राम मन्दिर, भीमगंज मण्डी, कोटा-2)

पाठकों को चाहिए कि जो पुस्तक वे पुस्तकालय से प्राप्त करें, उसे 15 दिन के अन्दर-अन्दर जमा करदें अन्यथा 7 दिन के पश्चात उनको 25 पैसे प्रतिदिन दण्ड स्वरुप प्रदान करने पड़ेंगे। पुस्तकों की सुरक्षा आपकी अपनी सभ्यता एवं संस्कृति की सुरक्षा है।

सदस्य का नाम अथवा क्रम सं	पुस्तक लौटाने की अंतिम तिथि	सदस्य का नाम अथवा क्रम स०	पुस्तक लौटाने की अंतिम तिथि
11 [illegible]	3/8/78		